प्रथम संस्करण, १९५२

प्रकाशक—किताब महल, ५६ ए, जीरो रोड, इलाहाबाद।

मुद्रक—ए० डब्ल्यू० आर० प्रेस, इलाहाबाद।

के सारे प्रयत्न विफल होंगे। अतः कृषि और उद्योगों में संतुलन स्थापित करने की अत्यन्त आवश्यकता है, यह औद्योगीकरण के बिना स्थापित नहीं किया जा सकता।* औद्योगीकरण में दोनों प्रकार के छोटे और बड़े उद्योगों का समावेश है। परन्तु यह तो अब विवाद के परे की बात बन चुकी है कि देश की अर्थ-व्यवस्था में व्यावसायिक संतुलन और स्थायित्व स्थापित करने के लिये औद्योगीकरण अत्यन्त आवश्यक है। जितनी तेजी के साथ हम इसे सम्पन्न कर सकेंगे उतनी ही जल्दी असंतुलन के प्रभाव कम होते चले जायँगे।

हमारी अर्थ-व्यवस्था की एक और विशेषता है—वह दो भागों में बँटी हुई है—ग्रामीण और शहरी। उद्योग व्यवसाय, बाजार-हाट, लेन-देन, रहन-सहन, व्यापार-रोजगार, यातायात, रस्म-रिवाज संस्कृति-सभ्यता—सभी दृष्टि से ग्रामीण और शहरी क्षेत्रों में बड़ी भिन्नता है। शहर उद्योग-प्रधान, समृद्धिशील, संगठित और शिक्षा के केन्द्र हैं। देहात गरीबी, अशिक्षा और रोग के जीते-जागते नमूने हैं। यह अन्तर दोनों क्षेत्रों की प्रति मनुष्य आय से बिलकुल स्पष्ट है—†

	प्रति श्रमिक आय रुपयों में	प्रति मनुष्य आय रु० में
शहर	४२६	१६२
गांव	१३५	४८

केवल आर्थिक दृष्टि से ही नहीं सामाजिक और राजनैतिक

* अकाल जाँच कमीशन की रिपोर्ट १९४५ (फायनल), पृष्ठ ३११।

† डा० राव, दि नैशनल इन्कम आफ ब्रिटिश इण्डिया १९३१-३२, पृष्ठ १८९-९०।

भूमिका

पिछले पचास वर्षों में भारत ने औद्योगिक क्षेत्र में काफी प्रगति की है। इस प्रगति में अनेक बाधाएँ आईं, शासन की ओर से बहुत सी रुकावटें डाली गईं—परन्तु जैसे तैसे हमने गत वर्षों में उद्योग-धंधों का विकास कर ही लिया है। राजकीय संरक्षण, दो महायुद्ध और अन्ततः राजनैतिक स्वतन्त्रता इसमें बहुत सहायक सिद्ध हुये हैं। पर इतना सब होने के उपरांत भी हम अपने औद्योगिक सङ्गठन को प्रगतिशील राष्ट्रों के समकक्ष नहीं कह सकते। मूल उद्योग औद्योगीकरण की आधार-शिला माने जाते हैं। भारत में मूल उद्योगों का नाममात्र को ही विकास हुआ है। विद्युत् शक्ति के साधन होते हुये भी हम उनका ५० प्रतिशत भी उपयोग नहीं कर पाये हैं। समस्त ग्रामीण क्षेत्र उद्योग विहीन पड़ा हुआ है। अनेक प्रकार के कच्चे माल और मशीन, कल-पुर्जे और भारी रासायनिक पदार्थ हम विदेशों से मँगाते हैं। विदेशी-विनिमय के व्यय के अतिरिक्त हमारे औद्योगीकरण की रफ्तार रुकी हुई है। औद्योगिक ढाँचे में एक प्रकार की कमजोरी बनी हुई है जिसके कारण वह उत्पादन वृद्धि करने में असमर्थ है। हमारा औद्योगिक-विकास इतना रुक-रुक कर हुआ है, उसे विदेशी उद्योगपतियों की प्रतिस्पर्धा का इतना मुकाबला करना पड़ा है और अभी भी वह इतना अधूरा है कि देश में कुशल श्रमिक और कलाविदों का कोई स्वतन्त्र वर्ग नहीं बन पाया है। करोड़ों डालर प्रतिवर्ष हमको विदेशी कुशल श्रमिकों और विशेषज्ञों पर व्यय करने होते हैं। न देश में अभी औद्योगिक परम्पराएँ स्थापित हो पाई हैं और न अनुकूल वातावरण का ही निर्माण हो पाया है। संगठन और प्रबन्ध की दृष्टि से भी हमारे उद्योग अभी पिछड़े हुये हैं।

उत्पादन के लक्ष्य

पंचवर्षीय योजना के अंतर्गत विभिन्न उद्योगों में उत्पादन के निम्न लक्ष्य निर्धारित किये गए हैं—

उद्योग का नाम	माप या संख्या	१९५५-५६ में अनुमानित उत्पादन
कृषि के औजार	संख्या	१२४,३१६
अलकोहल	गैलन	२१६६००००
अल्युमिनियम	टन	२०,०००
आटोमोबाइल	संख्या	२५,०००
सीमेंट	टन	४६,३१,०००
सूत	दस लाख पौंड	१६,००
कपड़ा (मिल का)	दस लाख गज	४५,००
कृत्रिम खाद	टन	२७६,०००
शीशे का सामान	टन	३१८,०००
भारी रसायन	टन	२८७,०००
दियासलाई	बॉक्स	६९०,०००
कागज और गत्ते	टन	१६५,०००
साबुन	टन	२७०,०००
स्पात	टन	१३१५,०००
चीनी	टन	१५,००,०००

औद्योगिक क्षेत्र का विभाजन

विभिन्न उद्योगों के उपर्युक्त लक्ष्यों को प्राप्त करने के लिये कमीशन ने समस्त औद्योगिक व्यवस्था को दो भागों में विभक्त किया है—वैयक्तिक क्षेत्र और लोक क्षेत्र। राज्य के साधनों का

प्रति एकड़ उत्पादन-व्यय गत १० वर्षों से बढ़ रहा है। युद्धकालीन उद्योगों की बुनियाद पक्की नहीं मानी जा सकती। उनका पुनः संस्थापन बड़ी विकट समस्या है। अब तक उद्योग वैयक्तिक पूँजी के स्वामित्व में ही रहे हैं। संयोजित अर्थ-व्यवस्था में किस प्रकार धीरे-धीरे इनका स्वामित्व सामाजिक अधिकार में लाया जाय, यह सबसे गंभीर समस्या है। पंच वर्षीय योजना और नवीन औद्योगिक नीति वाले अध्यायों में इस समस्या का विश्लेषण किया गया है। परिवर्तित राजनैतिक स्थिति में हम विदेशी पूँजी का सहयोग किस हद तक लें—यह विवादास्पद प्रश्न है। इस विषय पर भी एक स्वतन्त्र अध्याय में विवेचना की गई है।

कुछ चुने हुये बड़े उद्योगों की समस्याओं का विस्तार से वर्णन किया गया है। हिन्दी भाषा में इस विषय पर कोई स्वतन्त्र पुस्तक नहीं थी। और विशेषकर युद्धोत्तर काल के विकास और उसकी समस्याओं का तो कोई क्रमबद्ध विवरण उपलब्ध था ही नहीं। आशा है, प्रस्तुत पुस्तिका इस अभाव की पूर्ति करने में समर्थ होगी।

साधनों का उपयोग उत्पादक वस्तुओं के निर्माण में किया जाय ताकि कुछ समय के पश्चात् देश की उत्पादन शक्ति बढ़े। पहले मार्ग में कुछ समय के लिये समस्या हल हो जायगी। परन्तु ज्योंही योजना का काल समाप्त होगा, देश की अर्थ-व्यवस्था की उत्पादन शक्ति हमको पूर्ववत् वहीं स्थिर मिलेगी क्योंकि उत्पादक वस्तुओं का बहुत कम निर्माण किया गया है। फिर दुबारा हम उपभोग्य वस्तुओं के उत्पादन पर ही जोर देंगे और मूल उद्योगों के विकास के लिये हमारे पास कुछ नहीं बच रहेगा। योजनाकार दुर्भाग्य से इस दृष्टि-कोण से अधिक प्रभावित हुए हैं और उन्होंने योजना में मूल उद्योग धन्धों को उतना अधिक महत्व नहीं दिया है जितना कि भारत जैसे अविकसित अर्थ-व्यवस्था वाले देश को देना चाहिये। योजना के समस्त व्यय १४९३ करोड़ रुपये में से केवल १०१ करोड़ रुपये ही उद्योगों के विकास पर खर्च किये जायँगे, अर्थात् ७ प्रतिशत से भी कम, जब कि कृषि, सिंचाई और विद्युत पर ४३ प्रतिशत, याता-यात पर २६ प्रतिशत और सार्वजनिक सेवा पर २४ प्रतिशत व्यय करने का आयोजन है। पंचवर्षीय योजना की यदि अन्य विकास योजनाओं से तुलना की जाय तो हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि इस योजना में मूल उद्योगों को उचित महत्व नहीं दिया गया है।

	समस्त व्यय	उद्योगों पर व्यय	समस्त व्यय का प्रतिशत
बम्बई योजना (प्रथम काल में)	१४०० करोड़ रु०	५६० करोड़ रु०	४६
सरकार की युद्धोत्तर योजनाएँ	३४५६ " "	६२६ " "	१८
गाँधीवादी योजना			
कोलम्बो योजना			१०
पंचवर्षीय योजना	१४९३ " "	१०१ " "	६

विषय-सूची

सरकार ने इस सिफारिश को मंजूर किया। परन्तु संरक्षण चालू रखने के कारण विदेशों से आयात की कमी हुई और राजकीय आय में भी कमी हुई। इस प्रकार राज्य को प्रति वर्ष ३० लाख रु० हानि होने की संभावना थी। इस हानि की पूर्ती के लिये राज्य ने स्पात पर ४ रु० प्रति टन एक्साइज ड्यूटी (उत्पादन-कर) लगाने का निश्चय किया। "आयरन एन्ड स्टील ड्यूटीज ऐक्ट ऑफ १६३४" के अनुसार यह उत्पादन-कर लगाया गया।

उद्योग का विकास

इस उद्योग को जो कुछ संरक्षण दिया गया उससे इसकी बहुत अधिक प्रगति हुई। द्वितीय महायुद्ध आरंभ होने के समय उद्योग प्रत्येक प्रकार की स्थिति का सामना कर सकता था। टाटा का कारखाना धीरे-धीरे अपना उत्पादन बढ़ा रहा था। इस कारखाने ने नई मशीन स्थापित की गई और उत्पादन कुशलता में भी वृद्धि की गई। संरक्षण प्राप्त हो जाने के पश्चात् कुछ नये कारखाने भी स्थापित किये गये। "स्टील कॉरपोरेशन ऑफ बङ्गाल" की स्थापना स्पात उद्योग के इतिहास में बहुत महत्वपूर्ण है। मार्टिन बर्न मैनेजिंग ऐजेन्सी के तत्वावधान में इस कारखाने की स्थापना बर्नपुर के समीप हुई। कच्चा लोहा, बिजली, पानी इत्यादि इस कारखाने को इंडियन आयरन एण्ड स्टील कंपनी से मिलते हैं। १६३६ में इसका निर्माण आरंभ हुआ। ३ वर्ष के भीतर लोहे के निर्माण का कार्य आरंभ हो गया। इस कारखाने की मशीन जर्मनी से मँगाई गई। कारखाने में प्रति वर्ष ५ लाख टन से ६ लाख टन तक स्पात बनाया जा सकता है। इस कारखाने के स्पात का उपयोग अधिकतर बन्दूक की गोलियाँ, बम, रेलवे लाइन, तारघर इत्यादि के सामान बनाने में किया गया। कारखाने में कुछ सहायक

की शक्कर का बाजार सबसे बड़ा है। वैज्ञानिक और यांत्रिक प्रगति की दृष्टि से भी शक्कर का उद्योग एशिया के अन्य देशों के उद्योगों से पीछे नहीं है।

उद्योग की समस्याएँ—उद्योग का देश की अर्थ व्यवस्था में इतना महत्व होते हुए भी उसके मार्ग में कुछ विशेष कठिनाइयाँ हैं। संरक्षण के कारण यदि उद्योग ने एक ओर आशा से अधिक प्रगति की है तो दूसरी ओर इस तेज प्रगति के कारण कुछ समस्याएँ भी खड़ी हो गई हैं। उद्योग की कुछ प्रमुख समस्याएँ इस प्रकार हैं :—

प्रति एकड़ गन्ने का कम उत्पादन—उद्योग की सबसे बड़ी समस्या प्रति एकड़ गन्ने का कम उत्पादन होना है। ज्यों-ज्यों उद्योग का प्रसार होता गया त्यों-त्यों गन्ने के उत्पादन में क्रमशः ह्रास होता चला गया। प्रति एकड़ उत्पादन में कमी होने से गन्ने का भाव बढ़ जाता है और इससे शक्कर का प्रतिटन उत्पादन-व्यय भी बढ़ जाता है। इसलिये गन्ने की खेती की अवस्था का शक्कर के उद्योग पर प्रत्यक्ष प्रभाव पड़ता है। गत वर्षों से गन्ने के उत्पादन में जो ह्रास हुआ है उनके कुछ मुख्य कारण इस प्रकार हैं :—

(१) गन्ने की खेती मुख्यतया बिहार और उत्तर प्रदेश में होती है। एक ही भूमि पर लगातार यदि एक ही फ़सल बार-बार तैयार की जाती है और यदि उस भूमि को अच्छी और पर्याप्त खाद न दी जाय तो उसकी उत्पादन शक्ति घटती ही चली जाती है। उत्तर प्रदेश और बिहार की गन्ने की भूमि की प्रायः यही स्थिति हुई है, गन्ने के खेतों में खाद बहुत कम दी जाती है।

(२) गन्ने के बीज भी बड़े निम्न श्रेणी के हैं। यद्यपि सरकार ने अच्छे प्रकार की गन्ने की खेती को फैलाने का काफी प्रयत्न

कागज की किस्म	देश में वर्तमान उत्पादन (टन)	उत्पादन के लक्ष्य (टन)		अनुमानित वार्षिक उपयोग (टन)	
	१९४४	१९५१	१९५६	१९५१	१९५६
अखबारी कागज के अतिरिक्त अन्य सब प्रकार के कागज	९०,०००	१६६,०००	३०२,०००	२२०,०००	३१२,०००
अखबारी कागज	शून्य	२०,०००	४०,०००	६०,०००	१००,०००
सब प्रकार के बोर्ड	२४,०००	७५,०००	११६,०००	७५,०००	११६,०००

हमारी अर्थ व्यवस्था में औद्योगीकरण का महत्व

वर्तमान युग में किसी भी देश के आर्थिक विकास की गति उसकी औद्योगिक उन्नति पर निर्भर करती है। उद्योगों का प्रसार होने से देश के आर्थिक साधनों में भी वृद्धि होती है और राष्ट्र की अर्थ-व्यवस्था में स्वतः विकास होता चला जाता है। इसमें संदेह नहीं कि प्रायः सारे ही मूल पदार्थों को उपभोग्य पदार्थों में परिवर्तित करने का सारा कार्य विभिन्न उद्योगों के द्वारा ही होता है इसके साथ ही किसी समाज की मूल पदार्थ उत्पन्न करने की शक्ति भी उद्योगों द्वारा निर्मित वस्तुओं की उपलब्धता पर ही निर्भर रहती है। उदाहरण के लिये कृषि उत्पत्ति उस देश में अधिक होगी जहां सिंचाई के साधन विकसित हैं। कृषि यंत्र वैज्ञानिक हैं और कृषि कार्य के लिए बिजली उपलब्ध है। इसी प्रकार धातु उत्पादन और धातु शोधन भारी मशीन और कल-पुर्जों के द्वारा ही हो सकते हैं इन साधनों की उपलब्धता उद्योगों के विकास पर ही निर्भर करती है। वास्तव में मूल उद्योग आर्थिक विकास के साधनों का निर्माण करते हैं। जिस गति से उद्योगों के द्वारा इन साधनों का निर्माण होता है उसी गति से राष्ट्र की अर्थ व्यवस्था अधिक समृद्धिशाली और शक्तिशाली बनती जाती है। इसीलिये अर्थशास्त्रियों ने औद्योगिक विकास को राष्ट्र की आर्थिक प्रगति का माप माना है। प्रगतिशील राष्ट्रों का १०० वर्षों का इतिहास भी उक्त निष्कर्ष को सिद्ध करता है। इन देशों की आर्थिक प्रगति के पीछे प्रेरक-शक्ति औद्योगिक उत्पादन में वृद्धि करने की इच्छा रही है। इंग्लैंड, अमेरिका, जापान, सोवियत रूस और नया चीन सभी का मुख्य लक्ष्य

औद्योगिक विकास रहा है। यदि विश्लेषणात्मक दृष्टि से देखें तो उनकी कृषि उन्नति की योजनाएँ औद्योगिक विकास का एक अंग हैं। दूसरे शब्दों में इन देशों में कृषि का भी औद्योगीकरण हो चुका है।

उत्पादन की मात्रा, प्रकार और गति राष्ट्र की उत्पादन शक्ति पर निर्भर करते हैं। यदि राष्ट्र के उद्योगों का पर्याप्त विकास हो गया है तो वह अपने प्राकृतिक साधनों का अधिकतम औद्योगिक उपयोग कर सकता है। प्रति मनुष्य उत्पादन अधिक होने के साथ राष्ट्र का समस्त वार्षिक उत्पादन अधिकतम बिन्दु तक किया जा सकता है। कृषि, उद्योग, यातायात, खनिजोद्योग सभी में उत्पादक साधनों का अनुकूलतम उपयोग होता है और औद्योगिक सङ्गठन विभिन्न उत्पादक स्रोतों से राष्ट्रीय आय में अधिक से अधिक उत्पत्ति आकर्षित करता है। यही कारण है कि उद्योग-प्रधान देशों में वार्षिक उत्पत्ति कृषि प्रधान देशों की अपेक्षा अधिक होती है। नीचे की दो तालिकाओं से यह तथ्य सिद्ध होता है :—

विभिन्न देशों का औद्योगिक उत्पादन*

देश	कच्चा लोहा ,००० टन	स्पात ,००० टन	सीमेंट ,००० टन	कपड़ा दस लाख गज
भारत	१४१३	१२५६	१५५३	४३१९
आस्ट्रेलिया	१२३२	११५७	९८८	२२
कनाडा	२११७	२८८८	२२०४	२६८
फ्रांस	३४७१	७१२९	५२९१	—
जापान	८२३	१६८७	१८१३	९२३
इंगलैंड	९२७४	१४८७५	८५१५	१८९९
अमरीका	५५११३	७९०४७	३४५४६	९६४७

* इंडिया इन वर्ल्ड इकानमी (सरकारी प्रकाशन); पृष्ठ १४।

विभिन्न देशों का कृषि उत्पादन*

(प्रति एकड़ पौण्ड)

देश	गेहूँ	चावल	गन्ना	रुई
मिस्र	१६१८	२६६८	७०३०२	५३५
जर्मनी	२०१७	—	—	—
इटली	१३८३	४५६८	—	१७०
जापान	१७१३	३४४४	४७५३४	१६६
अमरीका	८१२	२१८५	४३२७०	२६८
चीन	६८६	२४३३	—	२०४
भारत	६६०	१२४०	३४६५४	८६

ऊपर की तालिकाओं से स्पष्ट है कि भारत औद्योगिक और कृषि उत्पादन दोनों में ही कितना पिछड़ा हुआ है। गत डेढ़ सौ वर्षों से देश का आर्थिक विकास अवरुद्ध है। चाहे इस स्थिति का कारण हमारी राजनैतिक पराधीनता हो या आर्थिक क्षेत्र में हमारी अकर्मण्यता, इतना निश्चित है कि न तो हमने देश की प्राकृतिक सम्पत्ति का पूरा उपयोग ही किया है और न इस सम्पत्ति के उपयोग करने के साधनों (यंत्र-मशीन) का ही निर्माण किया है। इस अवरोध की स्थिति को हमें समाप्त कर उत्पादन वृद्धि के लिये अनुकूल वातावरण उत्पन्न करना है। तभी हम अन्य राष्ट्रों के समान वार्षिक उत्पत्ति कर सकेंगे। इसके लिये हमें औद्योगीकरण तेजी के साथ करना आवश्यक है।

राष्ट्रीय आय राष्ट्र की वार्षिक उत्पत्ति पर निर्भर करती है। वार्षिक उत्पत्ति अधिक होने पर उत्पादन साधनों को अधिक पारि-

* नानावटी : दी इंडियन रूरल प्राब्लम, पृष्ठ ४०।

श्रमिक मिल सकेगा—मजदूरी, व्याज, वेतन, किराया इत्यादि की दरें ऊँची रहेंगी और उत्पादन कार्य में सहयोग देने वाले समाज के विभिन्न अङ्गों की आय में वृद्धि होगी। इसके अतिरिक्त उत्पादन अधिक होने पर उत्पादन-व्यय में कमी होगी और उत्पादक कम दर पर वस्तुएँ बेच सकेंगे। साथ ही पर्याप्त उत्पादन होने के कारण बाजार में वस्तुएँ अधिक आयेंगी, उनके मूल्य में कमी हो सकेगी। इससे समाज की क्रय-शक्ति और वास्तविक आय में वृद्धि होगी। निर्वाह व्यय में कमी होगी और जीवन स्तर में वृद्धि होगी। इसमें संदेह नहीं यह तर्क उसी स्थिति में सत्य सिद्ध होगा जब कि वितरण की व्यवस्था में प्रत्येक उत्पादन के साधन को उसका समुचित भाग मिलता रहे। परंतु यह तो स्वतः सिद्ध है कि जिन राष्ट्रों की उत्पत्ति अधिक है, वहाँ प्रति मनुष्य आय अधिक है और जीवन स्तर भी ऊँचा है। भारत इस दृष्टि से कितना पिछड़ा हुआ है, यह नीचे की तालिका से पता लगता है—

देश	आय (रुपयों में*)
आस्ट्रेलिया	२१६०
कनाडा	२८२६
डेनमार्क	२६४७
इंग्लैंड	२३५६
अमरीका	४६४३
लंका	३००
पाकिस्तान	२२५
भारत	२१३

जिस देश में उत्पादन जितना अधिक होगा उतनी ही उस

* 'कामर्स', वार्षिक अंक, १६४६।

देश की आय अधिक होगी, उतना ही निर्वाह व्यय कम होगा और जीवन स्तर (अर्थात् वास्तविक आय) उतना ही उन्नत होगा। नीचे की तालिकाओं में विभिन्न देशों का निर्वाह व्यय दिया हुआ है, जिससे यह स्पष्ट है कि अधिक उत्पादन वाले देशों में निर्वाह व्यय निश्चित रूप से पिछड़े हुए देशों की अपेक्षा कम है* :—

विभिन्न देशों का निर्वाह व्यय दर्शनांक

देश	सामान्य	खाद्यान्न
भारत	२८६	३०५
आस्ट्रेलिया	१४८	१४८
कनाडा	१५३	१८६
मिस्र	२८१	२६६
ईरान	७७५	७८१
इंग्लैंड	१०८	१०८
अमरीका	१६७	२००

भारत की प्रति मनुष्य आय और जीवन स्तर में उन्नति करने के लिये उत्पादन बढ़ाना अत्यन्त आवश्यक है। जब तक हमारे प्राकृतिक साधन अविकसित हैं, हमारा वार्षिक उत्पादन कम है और समस्त आर्थिक प्रगति अवरुद्ध है, तब तक चाहे हम वितरण व्यवस्था में कुछ भी परिवर्तन कर दें, राष्ट्रीय आय में वृद्धि नहीं हो सकती और आम जनता के रहन-सहन का दर्जा नीचा ही बना रहेगा। औद्योगीकरण के द्वारा ही इस परिस्थिति में परिवर्तन किया जा सकता है। उद्योगों के विकास से औद्योगिक और कृषि-उत्पादन दोनों में ही वृद्धि होगी। राष्ट्रीय आय की राशि में भी

* इंडिया इन वर्ल्ड इकानमी (सरकारी प्रकाशन), पृष्ठ २५।

वृद्धि होगी और प्रति मनुष्य आय और जीवन स्तर में उन्नति हो सकेगी।

भारत की अर्थ व्यवस्था में व्यावसायिक असन्तुलन बड़ी गंभीर समस्या है। मोटे रूप से जनसंख्या का तीन-चौथाई भाग जीविकोपार्जन के लिये कृषि पर निर्भर करता है। राष्ट्रीय आय समिति के अनुमान के अनुसार विभिन्न व्यवसायों में लगे हुए व्यक्तियों का प्रतिशत इस प्रकार है* :—

वर्ग	समस्त जनसंख्या का प्रतिशत
कृषि और पशुपालन	६८.२
खान	०.५
उद्योग	१३.६
यातायात	१.८
व्यापार	६.२
सेना और पुलिस	१.४
शासन	१.३
व्यवसाय और कला	३.८
घरेलू काम	३.२

अन्य देशों से जब हम अपने देश की तुलना करते हैं तो समस्या और भी विकट प्रतीत होती है—

* फर्स्ट रिपोर्ट आफ दि नैशनल इन्कम कमेटी, १९५१, पृष्ठ १८।

विभिन्न पेशों में लगे हुए प्रतिशत मनुष्य

देश	वर्ष	उद्योग खनिज यातायात	कृषि मछली वन उद्योग	अन्य व्यवसाय
ब्रिटेन	१९३१	५३	६	४१
जर्मनी	१९३३	४७	२९	२४
फ्रांस	१९३१	३९	३६	२५
रूस	१९२७	४६	१८	३६
हॉलैंड	१९३०	४८	२०	३२
डेनमार्क	१९३०	३३	३५	३२
भारत	१९३१	१६	६८.२	—

इस व्यावसायिक असंतुलन के दुष्परिणाम भारतीय जनता ने ब्रिटिश शासन के आरंभ में ही अनुभव कर लिये थे और इसके प्रति श्री रमेशचन्द्र दत्त, दादाभाई नौरोजी, जस्टिस रानडे, इत्यादि ने विरोध प्रकट किया था। १९१६-१८ के उद्योग आयोग (इण्डस्ट्रियल कमीशन) के सदस्य की हैसियत से मालवीय ने इसके विरुद्ध अपना दृढ़ मत सरकार के समक्ष रखा था। यह असंतुलन किन कारणों से हुआ अथवा उन कारणों के लिये कौन जिम्मेदार हैं इत्यादि प्रश्नों का अब केवल ऐतिहासिक महत्व है। व्यावहारिक दृष्टि से इस असंतुलन के दुष्परिणामों का विश्लेषण करना आवश्यक है। सामान्य रूप से यदि देश की जनसंख्या तेजी के साथ बढ़ रही हो और कृषि विकास अच्छी गति से हो रहा हो तो अर्थ व्यवस्था के कृषि-प्रधान होने पर भी देश समृद्धिशाली रह सकता है। परन्तु भारत में परिस्थिति इससे बिलकुल प्रतिकूल है। जनसंख्या भी तेज़ी से बढ़ रही है और पिछले सौ वर्षों से कृषि और उद्योग दोनों में ही स्थिरता की हालत पैदा है। एक ओर ग्रामोद्योगों के ह्रास के कारण दस्तकार लोग अपना

व्यवसाय छोड़कर खेती में लगते जा रहे हैं, दूसरी ओर औद्योगिक विकास के अभाव में बढ़ती हुई जनसंख्या विवशत: कृषि पर निर्भर होती जा रही है। इसका परिणाम स्वतः स्पष्ट है। कृषि पर जनसंख्या का भार निरंतर बढ़ता जा रहा है। हमारे देश में मनुष्य : कृषि-भूमि (Man:Land) का अनुपात इस बात को सिद्ध करता है—

देश	प्रति सौ एकड़ भूमि पर लगे हुए व्यक्तियों की संख्या
इंग्लैंड	६
अमरीका	६ से कम
पूर्वी योरोपीय देश	१४ से कम
भारत	८०

इस असंतुलित मनुष्य : कृषि-भूमि के अनुपात के कारण हमारी कृषि व्यवस्था में श्रम का विनियोग (इन्वेस्टमेन्ट ऑफ लेबर) आवश्यकता से अधिक है। भूमि, पूँजी और प्रबन्ध के अनुपात से उसका सामञ्जस्य नहीं बैठता। इसके फलस्वरूप कृषि में उत्पादन के विभिन्न साधनों की उत्पादन शक्ति अधिकतम नहीं हो सकती, साधनों का पूर्ण उपयोग नहीं हो पाता, वे निष्क्रिय रह जाते हैं। इसलिए वर्ष में ३-४ महीने तक किसान बेकार बैठा रहता है। जमीन छोटे-छोटे टुकड़ों में बँट गई। खेतों का आकार अलाभकारी बन चुका है और प्रति एकड़ उत्पादन घटता जा रहा है। कृषि लाभकारी व्यवसाय न रहकर केवल जीविकोपार्जन का साधन मात्र रह गई है। दूसरी ओर साधनों का पूर्ण उपयोग न होने के कारण कृषि में उत्पादन व्यय (कॉस्ट ऑफ प्राडक्शन) भी बढ़ता जा रहा है। इस असंतुलन के दुष्परिणाम कृषि तक ही सीमित नहीं हैं। प्रति एकड़ कम उत्पादन होने के कारण कृषक की वार्षिक आय उसके जीविको-

पार्जन के लिये भी पर्याप्त नहीं होती। उसकी क्रय-शक्ति कम होने के कारण भारतीय बाजार का विकास नहीं हो पाता क्योंकि भारत की अधिकांश जनता ग्रामीण है। बड़े-बड़े उद्योगों का विकास आखिर बाजार की माँग पर निर्भर करता है। जनसंख्या के बहुत बड़े भाग के कृषि में लगे रहने के कारण देश की अर्थ-व्यवस्था में सर्वदा अस्थायित्व की स्थिति बनी रहती है। कृषि अन्ततः प्रकृति पर निर्भर करती है। अत: उसका उत्पादन, संगठन और प्रतिफल कभी निश्चयात्मक नहीं हो सकते। यही कारण है संसार के प्रायः सभी कृषि-प्रधान देशों में आर्थिक उच्चावचन (फ्लकचुएशन) अधिक होते हैं। १९१९ की विधान सुधार समिति (मार्ले रिफार्म्स) ने लिखा था—"The economics of a country which depends to so great an extent as India on agriculture must be unstable."*

कृषि को लाभकारी बनाने तथा राष्ट्र की अर्थ-व्यवस्था में स्थायित्व लाने के लिये जिन सुधारों की आवश्यकता है उनमें सबसे आवश्यक कृषि भूमि पर से जनसंख्या के भार को हटाना है। विशेषज्ञों का अनुमान है कि ३ करोड़ ६० लाख मनुष्यों को कृषि से हटाकर अन्य उद्योग व्यवसायों में लगाना आवश्यक होगा।† देहातों में फैली हुई बेकारी को दूर करने के लिए अकाल जाँच कमीशन ने लिखा है कि भूमि पर से जनसंख्या का भार केवल कृषि-सुधार, ग्रामोद्योग और सार्वजनिक निर्माण कार्य से ही दूर नहीं हो सकता। हमारा दृढ़ मत है कि जब तक बड़े उद्योगों में लगे हुए मनुष्यों की संख्या में वृद्धि नहीं की जाती, जनता का जीवन स्तर ऊँचा उठाने

* रिपोर्ट आफ इंडियन फिस्कल कमीशन (१९२१-२२), पृष्ठ २१।

† गाँधीवादी योजना।

दृष्टि से भी यह विषमता वांछनीय नहीं है। शोषित वर्ग अब इतना अधिक जागृत हो चुका है कि वह इस विषमता को अधिक समय तक सहन नहीं कर सकता। यदि हमने इसे दूर नहीं किया तो वह हिंसक क्रान्ति के द्वारा उसे समाप्त कर देगा। अतः इसी में राष्ट्र का श्रेय है कि ग्रामीणों की आय में वृद्धि कर इस अन्तर को शीघ्र से शीघ्र खतम कर दिया जाय। यह तभी संभव है जब कि एक ओर बेकार देहाती जनता को उद्योगों में लगाया जाय और दूसरी ओर कृषि का सुधार किया जाय। दूसरे शब्दों में उद्योगों के विकास और कृषि सुधार के लिए साधनों (मशीन, कल-पुर्जे, सिंचाई के साधन, बिजली, लोहा, सीमेंट इत्यादि) का निर्माण किया जाय। एक विशेषज्ञ समिति ने लिखा है—"A suitable balance has to be procured between urban and rural sectors in any sound programme of national developement"।*

देश के वर्तमान खाद्य संकट के निवारण के लिए भी औद्योगिक विकास की आवश्यकता है। खाद्यान्न के लिये हम अपने सीमित साधनों का दो प्रकार से उपयोग कर सकते हैं। विदेशों से खाद्यान्न मँगाकर और उत्पादन वृद्धि के कुछ अल्पकालिक उपायों के द्वारा हम कुछ समय के लिये खाद्य संकट को दूर करने में सफल हो सकते हैं। परंतु यह मार्ग अधिक कल्याणकारी नहीं है क्योंकि अल्पकालीन उपायों का प्रभाव बहुत थोड़े समय तक रह सकेगा। उनसे हमारी उत्पादन-शक्ति में कोई विशेष वृद्धि नहीं होगी। इसलिये पाँचवें या दसवें वर्ष के पश्चात् जब कि आबादी बढ़ी हुई दिखाई देगा, खाद्य संकट के गंभीर वातावरण की पुनरावृत्ति हो जायेगी और इस प्रकार हम कभी भी इस मृग-मरीचिका से पीछा नहीं

---

* फर्स्ट रिपोर्ट आफ दि नेशनल इन्कम कमेटी १९५१, पृष्ठ ३६।

छुड़ा सकेंगे। दूसरा मार्ग यह हो सकता है—कुछ समय के लिये हम अपने साधनों का कृषि की अल्पकालीन योजनाओं में उपयोग न कर मूल उद्योगों और औद्योगिक कला के विकास में करें। वह मार्ग निःसंदेह कठिन होगा परन्तु हमें यह नहीं भूलना चाहिये कि कृषि की उत्पादन-शक्ति के विकास की गति उन पदार्थों (लोहा, स्पात, सीमेन्ट, बिजली इत्यादि) की उपलब्धता पर निर्भर करती है, जिनका कृषि उन्नति में उपयोग होता है। दूसरे मार्ग का अवलंबन करने से उपस्थित संकट की अवधि चाहे कुछ समय के लिये बढ़ जाय परंतु इससे उन्नति का मार्ग खुल जायगा और भविष्य में कृषि में उन्नति अधिक तेजी के साथ की जा सकेगी। खाद्य संकट को हम केवल कृषि उन्नति के द्वारा ही दूर नहीं कर सकते, औद्योगिक विकास का भी इससे गहरा संबंध है। आखिर उद्योग ही कृषि विकास के लिये लोहा स्पात, सीमेंट, कृत्रिम खाद्य, मशीन और बिजली पैदा कर सकेंगे। इस दृष्टिकोण की पुष्टि देश के सुप्रसिद्ध अर्थशास्त्री प्रो० वकील ने भी की है।*

भारत में पूंजी का अभी तक पूर्ण विकास नहीं हुआ है। करोड़ों की राशि निष्क्रिय अवस्था में पड़ी हुई है। राजनैतिक अस्थिरता और ब्रिटिश राज्य की आर्थिक नीति के कारण यह संचित धन औद्योगिक क्षेत्र में नहीं आता था। परंतु देश स्वतंत्र होने के पश्चात् ये सभी कारण समाप्त हो गये है। अब उद्योगों के विकास के द्वारा इस दबी हुई राशि को आकर्षित किया जा सकता है। इसमें कोई संदेह नहीं कि यह दबी हुई पूंजी धीरे-धीरे ही उद्योगों को आकर्षित कर सकेगी। परन्तु यह निश्चित है कि अन्य उपायों की अपेक्षा उद्योगों के द्वारा इसको आकर्षित करना अधिक

* प्रो० वकील, प्लानिंग फार शार्टेज इकानमी, पृष्ठ १३८-३६।

सरल होगा। कंपनियां धीरे-धीरे शेयरों के द्वारा पूँजी एकत्र करने में सफल होंगी। दूसरी ओर इन कंपनियों के द्वारा लाभांश ऐसे व्यक्तियों में वितरित किया जायगा जो उद्योगों में पूँजी लगाने के आदी हैं। कंपनियाँ अनेक प्रकार के फंड भी जोड़ती रहती हैं जिनका उद्योगों में उपयोग किया जा सकता है। प्रति वर्ष उद्योगों में लाभ होगा, उससे और पूँजी का सृजन हो सकेगा तथा देश के पूँजी-साधनों का तेजी से विकास हो सकेगा।

कुछ लोगों का विचार है कि उद्योगों का विकास करने से कृषि के लिये पूँजी की कमी पड़ जायगी। परन्तु यदि वास्तविक स्थिति का विश्लेषण किया जाय तो पता लगेगा कि इस मत का आधार सत्य नहीं है। अधिकतर किसान अपने वास्तविक लाभ को गहनों में लगा देते हैं। इस धन राशि को यदि उद्योगों में लगाया जाय तो कृषि पूँजी में कोई कमी नहीं आएगी क्योंकि आज भी यह कृषि में नहीं लगाई जाती है। बल्कि इस राशि को उद्योगों में लगाने पर लाभ कमाया जा सकेगा जिसका कुछ अंश कृषि में भी लगाया जा सकता है। जमीन रेहन रखकर किसान जो ऋण लेता है उसमें भी कोई कमी होने की शंका नहीं है क्योंकि जो साहूकार जमीन रेहन रखकर रुपया देते हैं वे जमीन के लिये बड़े लालायित रहते हैं। वे अपनी पूंजी इस व्यवसाय से कभी नहीं हटायेंगे। उपर्युक्त परिस्थिति को ध्यान में रखते हुए कृषि पूँजी में कमी होने का डर निराधार प्रतीत होता है।* वस्तुतः इस समय देश में परिस्थिति ऐसी है कि खेती, जमीन और अनाज के व्यापार पहले की अपेक्षा अधिक लाभकारी बन गये हैं। सम्भवतः जमींदारी प्रथा के समाप्त होने पर देहाती क्षेत्रों में पूँजी की कमी आरम्भ हो, परन्तु

---

* रिपोर्ट आफ दि इंडियन फिस्कल कमीशन, १९४९-५०, पृष्ठ २२।

इसके साथ यह भी संभव है कि ग्रामीण सहकारी संस्थाएँ धीरे-धीरे साहूकार का स्थान ले लें और राज्य की ओर से कृषकों को काफी सहायता मिलनी आरंभ हो जाय। फिर औद्योगिक विकास का ग्रामीणों की आय पर भी अच्छा प्रभाव पड़ सकता है। एक ओर कच्चे माल की माँग बढ़ेगी और कृषि मूल्य ऊँचे स्तर पर ही बने रहेंगे, दूसरी ओर कारखानों में मजदूरों की माँग बढ़ेगी और मजदूरी की दरें भी बढ़ेंगी। औद्योगिक केन्द्रों में हजारों मजदूर ऐसे हैं कि जो अपनी गृहस्थी गाँव में बसाये रखते हैं। उनका गाँव से निरंतर सम्बन्ध बना रहता है। वे नियमित रूप से अपनी गृहस्थी के लिये अपनी आय का कुछ अंश गाँव भेजते रहते हैं। इससे गृहस्थी की समस्त आय में सहारा अवश्य लगता है। औद्योगिक केन्द्रों का एक और लाभकारी प्रभाव होता है। शहर के आसपास के देहातों में अनेक सहायक या पूरक व्यवसाय खुल जाते हैं और वहाँ भी मजदूरी की दर में वृद्धि हो जाती है। इस प्रकार औद्योगिक विकास अप्रत्यक्ष रूप से ग्रामीण क्षेत्रों की आय बढ़ाने में सहायक हो सकता है।

भारत में इस समय जनसंख्या का प्रश्न बहुत गंभीर है। हमारी आर्थिक प्रगति के सुपरिणामों को जनसंख्या-वृद्धि लगातार कम करती जा रही है। जनसंख्या-वृद्धि और आर्थिक विकास में एक प्रकार की दौड़ चल रही है। आर्थिक विकास जनसंख्या-वृद्धि की अपेक्षा अधिक तेजी से हो, यह तो आवश्यक है ही, परन्तु यह भी विचारणीय प्रश्न है कि स्वयं औद्योगिक विकास का जनसंख्या-वृद्धि पर क्या प्रभाव पड़ता है। औद्योगिक विकास जनसंख्या को प्रभावित करता है क्योंकि इससे शहरी क्षेत्र का प्रसार होता है। इ० चार्ल्स ने लिखा है कि प्रायः सभी जातियों की शहरी और ग्रामीण जनता की प्रजनन-शक्ति में अन्तर होता

है * अर्थात् ग्रामीणों की अपेक्षा शहरी मनुष्य को कम संतान होती है। जीवन स्तर, परिवार की परिस्थिति, विवाहित स्त्रियों द्वारा कारखानों में नौकरी, मकान की कठिनाई, मध्यवर्ग का आर्थिक उन्नति की इच्छा के कारण संतान की संख्या कम रखना, शिक्षा का प्रचार, सामाजिक वातावरण में परिवर्तन, इत्यादि के कारण शहरों में अब जनसंख्या उतनी अधिक नहीं है। पश्चिमी देशों की घटती हुई जनसंख्या और शहरी क्षेत्र के प्रसार में प्रत्यक्ष संबंध प्रतीत होता है। भारत में भी औद्योगिक विकास और शहरों के विकास के फलस्वरूप जनसख्या-वृद्धि पर इसी प्रकार के प्रभाव पड़ने का अनुमान लगाना ठीक होगा।†

देश के सैनिक संगठन और सुरक्षा की दृष्टि से भी औद्योगीकरण का बहुत अधिक महत्व है। वर्तमान समय में सैनिक संगठन, सुरक्षा और युद्ध कौशल इस प्रकार के हैं कि उनकी शक्ति और शत्रु से मुकाबला करने की क्षमता बहुत कुछ देश की औद्योगिक शक्ति पर निर्भर करते हैं। सुरक्षा विशेषज्ञ स्पष्ट कहते हैं कि वर्तमान युद्ध, युद्ध स्थल में नहीं, कारखानों में लड़ा जाता है अर्थात सुरक्षा का सारा सङ्गठन, उद्योगों पर निर्भर करता है। जो देश जितनी जल्दी और अधिक मात्रा में सैनिक और नागरिक माल तैयार कर सकेगा उसमें उतनी ही अधिक सैनिक शक्ति होगी। हमारे देश को स्वतंत्र हुए अभी कुछ ही वर्ष हुए हैं। अब तक हम सैनिक सामग्री और संगठन के लिये ब्रिटेन पर ही निर्भर रहते आये हैं। आज भी कुछ अंशों में हम इस निर्भरता से स्वतंत्र नहीं हो पाये हैं। हमें अपने सैनिक संगठन में आत्मनिर्भर बनने के लिये

---

* इनिड चार्ल्स, दी ट्वाइलाइट आफ पेरेन्टहुड, १९३४।

† अकाल जाँच कमीशन की रिपोर्ट (फायनल) १९४५, पृष्ठ ६६।

सैनिक सामग्री तैयार करने वाले तथा अन्य मूल-उद्योगों का जल्दी से जल्दी विकास करना होगा। भारत को केवल आंतरिक और बाह्य सुरक्षा के लिये ही सैनिक सामग्री नहीं चाहिये। आज अंतर्राष्ट्रीय क्षेत्र में उसकी स्थिति भिन्न है। वास्तव में दक्षिण पूर्वी एशिया के क्षेत्र में सुरक्षा का उत्तरदायित्व भारत पर ही है। अतः इसे अपनी आवश्यकताओं को ही पूरा नहीं करना है, अन्य देशों को भी सैनिक सामग्री में सहायता देनी है। संसार में युद्ध की संभावना अभी कम नहीं हुई है, ऐसी अवस्था में हमें औद्योगिक विकास की गति बढ़ा देनी चाहिये ताकि हम सुरक्षा की नींव जल्दी से जल्दी मजबूत बना सकें।





नवीन औद्योगिक नीति

६ अप्रैल सन् १९४८ को भारत सरकार ने अपनी एक नई औद्योगिक नीति की घोषणा की। यह नीति देश के औद्योगिक संयोजन (इंडस्ट्रियल प्लानिंग) में अपना महत्वपूर्ण स्थान रखती है। सन् १९४५ में ब्रिटिश सरकार ने भी इसी प्रकार की नीति की घोषणा की थी, परंतु उसे कार्यान्वित नहीं किया गया। नई औद्योगिक नीति का महत्व इसलिये अधिक बढ़ जाता है कि उसका अन्वेषण अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी के नेतृत्वमें एक उत्तरदायी सरकार द्वारा किया गया था। इसके अतिरिक्त वह देश की वास्तविक परिस्थिति पर आधारित थी और जिसे पूर्णतः कार्यान्वित करने के लिये हमारी राष्ट्रीय सरकार ने निश्चय कर लिया था।

इसके पहले कि इस नीति की विशेष चर्चा की जावे, यह जान लेना आवश्यक है कि किन परिस्थितियों में ऐसी घोषणा की गई। १५ अगस्त, १९४७ को राजनैतिक स्वतंत्रता प्राप्त होने के बाद भारत में एक नये काल का प्रादुर्भाव हुआ और सारे देश में एक अभूतपूर्व उत्साह जागृत हो गया। पिछले सैकड़ों वर्षों से लोग जिस 'स्वराज्य' के स्वप्न को देखते आ रहे थे, वह राजनैतिक स्वतंत्रता मिलने पर प्रत्यक्ष हो गया था और देश का प्रत्येक व्यक्ति-वर्ग एक नवीन भारत के निर्माण में अपना योग देने के लिये तत्पर था। उद्योगपति ऐसे समय में देश की अर्थ-व्यवस्था में अपना एक महत्वपूर्ण स्थान बनाने के लिये उत्सुक हो रहे थे। उन्होंने प्रेस के द्वारा अपने भाषणों में, धारासभाओं और व्यापारिक-मंडल की सभाओं में देश के औद्योगीकरण और उसमें वैयक्तिक अधिकार प्राप्त करने के

लिये सरकार का ध्यान आकर्षित किया। भारतीय व्यापारिक-मंडल (भारत चेम्बर्स ऑफ कामर्स) के वार्षिक अधिवेशन में श्री एम० ए० मास्टर ने प्रधान मंत्री से प्रार्थना की कि वे भारत के आगामी औद्योगीकरण में वैयक्तिक साहस (प्राइवेट इंटरप्राइज) को महत्व-पूर्ण स्थान दें और देश की आगामी अर्थ व्यवस्था और औद्योगिक विकास में वैयक्तिक अधिकार के स्थान के संबंध में राजकीय नीति की घोषणा करें। इसी तरह श्रमिक-वर्ग भी अपनी माँगों के लिये जोर दे रहा था। सभाओं, जुलूसों, हड़तालों और प्रदर्शनों के द्वारा यह वर्ग भी देश की आगामी अर्थ-व्यवस्था में एक महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त करने का प्रयत्न कर रहा था। सारे देश में आर्थिक शान्ति एवं सुरक्षा रखने के लिए सरकार ने भी स्वयं अपनी आर्थिक एवं औद्योगिक नीति को घोषित करने की आवश्यकता महसूस की। सरकारी सदस्य अब तक धारा सभाओं में और जनता के सामने व्यक्तिगत रूप से औद्योगिक नीति के संबंध में अपने विचार व्यक्त करते आ रहे थे। पर उनके भाषण विरोधात्मक, अपूर्ण और भ्रामक होते थे और वस्तुस्थिति को स्पष्ट करने के बदले वे जनता को संदेह में डाल देते थे। अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी की इकानामिक प्रोग्राम कमेटी की रिपोर्ट प्रकाशित होने पर श्रम और पूँजी में और भी मतभेद उत्पन्न हो गया, क्योंकि इस रिपोर्ट में केवल आदर्श पक्ष पर ही अधिक जोर दिया गया था, जब कि ऐसे आदर्श को प्राप्त करने के लिये किसी निश्चित प्रोग्राम की अवहेलना की गई।

भारतीय संसद में नई औद्योगिक नीति के संबंध में प्रस्ताव रखते हुए भारत के भूतपूर्व उद्योग और प्रदाय मंत्री डा० श्यामा प्रसाद मुकर्जी ने इच्छा प्रकट की थी कि वह वैयक्तिक अधिकार और पूँजी तथा श्रम के संबंध में सभी अनिश्चित एवं शंकास्पद बातों का निराकरण करने में सफल होगी देश के प्रमुख विद्वानों

और व्यापारिक-मंडलों के प्रतिनिधियों के भाषणों तथा समाचार-पत्रों से स्पष्ट है कि ऐसी गलत धारणायें अब बहुत कुछ समाप्त हो चुकी हैं। देश की आगामी १० वर्षों की औद्योगिक-व्यवस्था में उद्योगपतियों का स्थान निश्चित हो गया है, क्योंकि उन्हें अपने उद्योगों को विकसित करने के लिए सभी प्रकार की सुविधाएँ दी गई हैं। सरकार की यह धारणा कि "प्रमुख उद्देश्यों को प्राप्त करने की योग्यता राजकीय उत्तरदायित्व और वैयक्तिक साहस (प्राइवेट इंटर-प्राइज़) की कार्य-सीमा निर्धारित करेगी" और उसका यह विश्वास कि "वर्तमान परिस्थितियों में राज्य के सीमित आर्थिक साधनों के कारण वह अपनी इच्छानुसार औद्योगिक विकास न कर सके" इस बात के सबूत हैं कि दस वर्षों बाद भी वैयक्तिक अधिकार को पनपने का अवसर मिलेगा। फिर भी यदि राज्य के पास वैयक्तिक अधिकार को समाप्त करने के लिए पर्याप्त साधन हो जाते हैं, तो इस नीति में ऐसा आश्वासन दिया गया है कि उन्हें विधान द्वारा निश्चित अधिकार और हानिपूरण दिया जायगा। इस प्रकार यह तो निश्चित ही है कि प्रथम दस वर्ष के लिये हमारी अर्थ-व्यवस्था में वैयक्तिक अधिकार का स्थान रहेगा, और उसके बाद भी सरकार के सीमित साधनों को देखते हुए उसका अस्तित्व कायम रहने की सम्भावना है। और यदि इस नीति को समाप्त भी करना है, तो वैयक्तिक साहस को उचित हानिपूरण देने का आश्वासन दिया गया है।

औद्योगिक नीति का आधारभूत उद्देश्य सामाजिक सुरक्षा स्थापित करना है, जिसमें सभी व्यक्तियों को न्यायोचित आर्थिक समानता एवं सुरक्षा प्राप्त करने का अवसर होगा। परंतु यह केवल एक आदर्श मात्र ही है जिसे प्राप्त करने में एक बहुत बड़ा समय लग सकता है। अतएव, औद्योगिक नीति का अल्पकालीन उद्देश्य

बड़े पैमाने पर शैक्षणिक सुविधाएँ एवं स्वास्थ्य सम्बन्धी सेवाएँ प्रदान करना है। इस नीति का उद्देश्य देश के छिपे हुये साधनों का पता लगाना, उत्पादन बढ़ाना और सामाजिक सेवा के लिए सभी को उचित अवसर देना है। इस प्रकार इस नीति के कार्यान्वित किए जाने पर लोगों के जीवन-स्तर में शीघ्र ही उन्नति होगी। आज की परिस्थिति को देखते हुये अधिक उत्पादन के लिए जोर देना नितांत आवश्यक है, अन्यथा वर्तमान राष्ट्रीय आय का पुनर्वितरण करना स्वल्पता (स्केयरसिटी) का ही वितरण करना होगा। प्रस्ताव में आवश्यक उपभोग्य एवं पूँजीगत वस्तुओं के उत्पादन में वृद्धि करने के लिए विशेष जोर दिया गया है, ताकि उन वस्तुओं का निर्यात बढ़ सके और हम अधिक विदेशी-विनिमय कमा सकें। औद्योगिक-नीति के सम्बन्ध में राजकीय घोषणा को तथा उसके उद्देश्यों को सामान्य रूप से सारे देश ने मान्यता दी है।

यद्यपि उपर्युक्त घोषणा सरकारी औद्योगिक नीति में ही निहित है, फिर भी उसमें दो महत्त्वपूर्ण बातों को छोड़ दिया गया है। भारत की औद्योगिक अवनति को देखते हुये और ब्रिटिश-शासन-काल तक उसकी आर्थिक परतंत्रता को ध्यान में रखते हुये यह अत्यंत आवश्यक है कि शीघ्र ही राष्ट्रीय आत्म-निर्भरता (नैशनल सेल्फ सफीशिएन्सी) प्राप्त करने के लिए हम अपनी आर्थिक नीति बदलें। इस प्रश्न पर अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी द्वारा स्थापित राष्ट्रीय आयोजन समिति ने पर्याप्त जोर दिया है। इसके अनुसार "आर्थिक-व्यवस्था का संयोजन करने का प्रमुख उद्देश्य शीघ्रातिशीघ्र राष्ट्रीय आत्म-निर्भरता प्राप्त करना है।"* प्लानिंग ऐडवाइज़री बोर्ड ने भी अपनी रिपोर्ट में इसी दृष्टिकोण का पोषण किया है। उसके अनुसार "किन्हीं-किन्हीं क्षेत्रों में राष्ट्रीय आत्म-निर्भरता अवश्य

* हैन्ड बुक आफ दि नैशनल प्लानिंग कमेटी, १९४६, पृष्ठ २०।

ही होनी चाहिये।"* दूसरी बात हमारे उन आधारभूत उद्योगों के विकास के सम्बन्ध में है, जो देश की सुरक्षा-सम्बन्धी वस्तुओं का उत्पादन करते हैं। बिगड़ती हुई अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थिति, देश की सीमाओं पर राजनैतिक शक्तियों के दाँव-पेंच और पूर्व में उसकी खतरनाक स्थिति को देखते हुये यह नितांत आवश्यक है कि शीघ्र ही भारत की सैनिक सुरक्षा का सङ्गठन आधुनिक तरीकों पर किया जावे। इस विषय पर प्लानिंग ऐडवाइजरी बोर्ड ने कहा है कि "इस प्रकार का विकास अवश्य ही देश को सुरक्षा की दृष्टि से अधिक समर्थ बना देगा, और यह आर्थिक संयोजन का एक सह-उद्देश्य माना जा सकता है।" अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी द्वारा नियुक्त इकानॉमिक प्रोग्राम कमेटी ने भी स्वतंत्र भारत की भूमिका में आर्थिक संयोजन की समस्याओं पर विचार किया है और तदनुसार उसने अपना सुझाव दिया है कि इस प्रकार की अर्थ-व्यवस्था का निर्माण करना चाहिये जो देश की आंतरिक एवं बाह्य सुरक्षा सम्बन्धी सभी आवश्यकताओं की पूर्ति कर सके। इस प्रकार सुरक्षा एवं राष्ट्रीय आत्म-निर्भरता सम्बन्धी दृष्टिकोणों की अवहेलना कर औद्योगिक नीति अपूर्ण ही रह जाती है। परंतु यह आशा की जाती है कि जब नीति को पूर्णतः कार्यान्वित किया जावेगा, तब इन दोनों ही उद्देश्यों को ध्यान में रखा जावेगा, क्योंकि आज के युग में सभी आर्थिक क्रियाएँ राष्ट्रीय उन्नति एवं सुरक्षा के लिये ही की जाती हैं।

राष्ट्रीयकरण की माँग

स्वामित्व, कार्य-संचालन तथा नियंत्रण की दृष्टि से सरकार ने निम्न प्रकार से उद्योगों को पाँच वर्गों में बाँट दिया है—

---

* रिपोर्ट आफ दी प्लानिंग ऐडवाइजरी बोर्ड, पृष्ठ ४।

केन्द्रीय सरकार के अधिकार में	केन्द्रीय, प्रांतीय और रियासती सरकारों तथा वैयक्तिक अधिकार के अन्तर्गत, वर्तमान उद्योगों को छोड़कर	वैयक्तिक अधिकार के अन्तर्गत, परन्तु जिन पर केन्द्रीय नियमन तथा नियंत्रण है।	वैयक्तिक अधिकार के अन्तर्गत, विशेषकर वे उद्योग जो औद्योगिक सहकारी संस्थाओं के अधिकार में हैं।	जो स्वतन्त्र रूप से वैयक्तिक अधिकार के अन्तर्गत हैं।
सैनिक सामग्री का निर्माण, अणु शक्ति का उत्पादन और नियंत्रण तथा रेलवे यातायात का स्वामित्व और प्रबंध	कोयला, लोहा और स्पात, हवाई जहाज और जल जहाज का निर्माण, टेलीफोन, टेलिग्राफ और वायरलेस के सामान का निर्माण (रेडियो को छोड़कर) और मिट्टी का तेल	नमक, मोटर गाड़ियाँ और ट्रेक्टर, बिजली, का सामान, मशीनों का सामान, भारी रासायनिक पदार्थ, रासायनिक खाद और दवाइयाँ, रबर का सामान, शक्ति और अलकोहल, सूती और ऊनी कपड़े, सीमेन्ट, शक्कर कागज और न्यूज-प्रिन्ट, हवाई और समुद्री यातायात संबंधी सामान, खनिज पदार्थ और सुरक्षा संबंधी उद्योग	सभी कुटीर, छोटे और ग्रामीण तथा कृषि संबंधी उद्योग	अन्य सभी उद्योग

भारत सरकार के औद्योगिक नीति संबंधी प्रस्ताव में आगामी १० वर्षों के लिये उद्योगों पर राजकीय अधिकार हो अथवा वैयक्तिक, इस संबंध में युक्तियाँ दी गई हैं। साथ ही औद्योगिक क्षेत्र में इस प्रस्ताव ने राज्य और वैयक्तिक अधिकार के अलग अलग क्षेत्र निर्धारित कर दिये हैं। इस प्रकार के वर्गीकरण के लिये सरकार ने कुछ कारण प्रस्तुत किये हैं, जिन पर विचार कर लेना आवश्यक है। सरकार के मतानुसार देश की आर्थिक स्थिति में किसी भी प्रकार की उन्नति राष्ट्रीय सम्पत्ति की वृद्धि मानी जाती है; अतएव सभी साधनों के द्वारा अधिकतम उत्पादन करना हमारा प्राथमिक उद्देश्य होना चाहिये। उत्पादन की वर्तमान मात्रा को कायम रखने के लिये तथा उसमें और भी वृद्धि करने के लिये सरकार देश के वर्तमान औद्योगिक ढाँचे में परिवर्तन नहीं करना चाहती। इस विषय पर अपना मत देते हुए पं० नेहरू ने भारतीय संसद में कहा था कि "कोई भी कदम उठाने से पहले इस बात का ध्यान रखना चाहिये कि वर्तमान औद्योगिक ढाँचे को अधिक हानि न पहुँचे। इस समय संसार और भारत में जो परिस्थिति है उसको देखते हुए कोई भी कार्य हम बिलकुल नये सिरे से शुरू नहीं कर सकते। हमारे पास इस समय जो औद्योगिक ढाँचा है उसे बिलकुल नष्ट करके यदि हमने नये सिरे से काम आरंभ किया तो हम उन्नति नहीं कर पायेंगे।" वास्तव में इस तरीके से उन्नति के रास्ते में बाधा उपस्थित हो जायगी। इसलिये नये सिरे के बजाय यह अधिक अच्छा है कि वर्तमान संगठन में कुछ यहाँ-वहाँ परिवर्तन करके उसमें हम धीरे-धीरे परिवर्तन करें, और अंत में चल कर सारे ढाँचे को नया रूप दे दें। ढाँचे को बदलने की हमारी रफ्तार बहुत धीमी नहीं होनी चाहिये। परन्तु इसके साथ ही वह इतनी तेज भी नहीं होनी चाहिये कि ढाँचे

को बदलने के दौरान में हम उसका बहुत बड़ा हिस्सा खत्म कर दें।

सरकार की अधिक उत्पादन करने की धारणा निश्चय ही तर्क-संगत है। परंतु यह समझ में नहीं आता कि केवल वैयक्तिक अधिकार को ही प्रोत्साहन देकर क्योंकर इस उद्देश्य की पूर्ति हो सकती है? औद्योगिक क्षेत्र में सरकार के हस्तक्षेप करने का निर्णय ही इस बात का सबूत है कि देश का वर्तमान औद्योगिक ढाँचा लोगों को न्यूनतम राष्ट्रीय आय देने में असफल रहा है। इस प्रकार की असफलता के कारणों को समझना कठिन नहीं है। पूँजीवादी व्यवस्था की लाभ मनोवृत्ति को ही ले लीजिये। इसके कारण उत्पादन के साधनों (फैक्टर्स आफ प्रोडक्शन) से अधिकतम उत्पादिता (प्रोडक्टिविटी) प्राप्त नहीं हो पाती। श्रम और पूँजी के आपसी सम्बन्ध का नियमन करने के लिये सभी प्रकार के उपाय काम में लाने पर भी जब तक उद्योग का लाभ श्रमिकों के हाथों में न जाकर उद्योगपति के पास जाता रहेगा, तब तक इन दोनों वर्गों में मतभेद होता रहना निश्चित है। १६वीं शताब्दी के आर्थिक जीवन पर आधारित उत्पादन की पद्धति यदि आधुनिक काल में भी लागू की जाती है, तो उससे निश्चय ही सामाजिक अव्यवस्था उत्पन्न हो जायगी। हमें दुख के साथ कहना पड़ता है कि सरकार की औद्योगिक नीति ने इस तथ्य पर उचित विचार नहीं किया है। जब तक उत्पादन-क्रिया में श्रम को उचित स्थान नहीं दिया जाता, अधिकतम उत्पादन करना सम्भव नहीं है। सरकार इस बात को मानती है कि औद्योगिक अशांति उत्पादन की मात्रा बढ़ाने में एक बहुत बड़ी बाधा है, परन्तु फिर भी वह वैज्ञानिक तरीके से इस कमजोरी को दूर नहीं करती। उत्पादन बढ़ाने और अंत में देश की गरीबी दूर करने की दृष्टि से भारत की

साम्यवादी पार्टी द्वारा १८ अप्रैल सन् १९४८ को निर्गमित एक प्रपत्र में कहा गया था कि यह नितांत आवश्यक है कि पूँजीपतियों को हमारी अर्थ-व्यवस्था के महत्वपूर्ण स्थानों से अलग कर देना चाहिये, उद्योग से लाभवृत्ति को दूर करने के प्रयत्न करने चाहिये और बड़े-बड़े उद्योगों का शीघ्र ही राष्ट्रीयकरण कर लेना चाहिये।" वर्तमान औद्योगिक संगठन किस हद तक उत्पादन में वृद्धि कर सकता है, यह वर्तमान आर्थिक परिस्थिति से स्पष्ट है। अनेक वर्षों के प्रयत्न के पश्चात् भी उत्पादन में कोई विशेष वृद्धि नहीं हो पाई है। अनेक बार शासन ने उद्योगपतियों को उत्पादन में वृद्धि करने का अवसर दिया, परन्तु उद्योगपतियों का असहयोग का ही रवैया रहा है। १९५२ के अप्रैल मास में मामूली मूल्य-ह्रास के कारण अहमदाबाद, बम्बई और सोलापुर की अनेक मिलों ने कपड़े का उत्पादन कम कर दिया। इससे स्पष्ट है कि उद्योगपति राज्य की औद्योगिक नीति से संतुष्ट नहीं हैं। औद्योगिक नीति वाले प्रस्ताव की घोषणा के समय श्री घनश्याम दास बिड़ला ने कहा था कि "सरकार को यह निश्चित रूप से समझ लेना चाहिये कि इस नीति से देश में उत्पादन-वृद्धि को प्रोत्साहन नहीं मिलेगा और आर्थिक उन्नति में भी कोई विशेष प्रगति नहीं होगी।"

राष्ट्रीयकरण के विरुद्ध दूसरी युक्ति यह भी दी जाती है कि चूंकि सरकार के पास पर्याप्त संख्या में कुशल श्रमिक और प्रबंधक नहीं हैं, इसलिये उद्योगों का राष्ट्रीयकरण करना वांछनीय न होगा। परन्तु यह विचारणीय बात है। इस समय वैयक्तिक उद्योगों में जो व्यक्ति कार्य कर रहे हैं, वे उद्योगों के राष्ट्रीयकरण के पश्चात् राज्य को क्यों उपलब्ध नहीं होंगे? स्वयं पंडित नेहरू ने इस बात पर प्रकाश डाला है। १८ फरवरी, १९४८ को उद्योगों के राष्ट्रीयकरण पर प्रकाश डालते हुए उन्होंने कहा था, "अनेक बार

यह प्रश्न किया जाता है कि उद्योगों का राष्ट्रीयकरण करने के लिये क्या हमारे पास प्रबंधकों और कुशल श्रमिकों की संख्या पर्याप्त है। मुझे इस प्रश्न से आश्चर्य होता है, क्योंकि जो व्यक्ति इस समय उद्योग में काम कर रहे हैं, वे काम करते ही रहेंगे—चाहे उद्योग का राष्ट्रीयकरण हो या न हो। राष्ट्रीयकरण के कारण ये व्यक्ति उद्योग को छोड़ कर नहीं चले जायँगे।" हमारा तो विश्वास है कि उद्योगों पर राजकीय प्रबंध हो जाने के पश्चात् श्रमिक उनकी ओर अधिक आकर्षित होंगे, क्योंकि सरकारी प्रबंध के अंतर्गत मजदूरों के रोजगार में अधिक स्थायित्व होगा, मजदूरी की दरें अधिक ऊँची होंगी, काम करने की व्यवस्था इत्यादि अधिक संतोषजनक होगी। वैयक्तिक-उद्योग निस्संदेह कभी-कभी मजदूरी की ऊँची दर देते हैं, परन्तु इने-गिने व्यक्तियों को ही वेतन ऊँचा मिलता है। सामान्य श्रमिक-वर्ग को ऊँची वेतन दर देना उद्योग-पतियों की लाभ-मनोवृत्ति के विरुद्ध है। वास्तव में सारे देश के लिये प्रबंधक, कुशल श्रमिक और औद्योगिक विशेषज्ञों का एक स्वतंत्र वर्ग स्थापित करना राज्य के लिये अधिक सरल है।

अधिकांश उद्योगों को वैयक्तिक अधिकार में छोड़ने का एक और कारण दिया जाता है। सरकार के राज्य के आर्थिक साधन सीमित हैं, इसलिये वह वैयक्तिक उद्योगपतियों को बहुत अधिक राशि में हानिपूरण देने की स्थिति में नहीं है। राज्य अपने सीमित साधनों को उद्योगों के हस्तान्तरण पर व्यय न करके, उसने इस समय जो बड़ी-बड़ी योजनाएँ हाथ में ले रखी हैं, उन पर व्यय करना अधिक ठीक समझता है। परन्तु इस स्थिति का दूसरा पक्ष भी है। राज्य को अनेक बड़ी योजनाएँ जल्दी से और किफायत के साथ कार्यान्वित करनी हैं। यह तभी हो सकता है, जब कि मूल उद्योगों पर राज्य का अधिकार हो जाय। बड़े बाँध, बड़ी इमारतें,

बड़े कारखाने और अन्य कार्यों के लिए सीमेंट, लोहा, स्पात, कोयला, यातायात, भारी रासायनिक पदार्थ और खनिज-पदार्थ आवश्यक हैं। इन उद्योगों का राष्ट्रीयकरण करने से निर्माण के सभी पदार्थ राज्य को सस्ती दर पर और अधिक सरलता से प्राप्त हो जायँगे; इनके साथ ही नये उद्योग-धंधों को आरम्भ करने के लिये राज्य के साधन भी बढ़ जायेंगे। स्वयं पंडित नेहरू ने यह स्वीकार किया है कि "राज्य के सामने इस समय गंभीर सामाजिक समस्याएँ उपस्थित हैं। राज्य को इन्हें सुलझाना होगा, अन्यथा वह समाज-कल्याण का राष्ट्र (सोशल वेलफेयर स्टेट) नहीं रहेगा। यदि इन समस्याओं को सुलझाना है तो राज्य के पास साधन पर्याप्त होने चाहिये। इसलिये वर्तमान समय में सामाजिक परिवर्तनों के कारण राज्य वैयक्तिक पूँजीपति की अपेक्षा उद्योग और सामाजिक-कल्याण के कार्यों में अधिक उत्तरदायित्व लेता चला जा रहा है।" इस सामाजिक परिवर्तन को राज्य जितनी जल्दी स्वीकार कर लेता है और तदनुसार अपनी नीति में परिवर्तन कर लेता है, उतना ही अच्छा है। राज्य को विधायक क्रिया-कलापों में कदम बढ़ाना चाहिये और उनके लिए आवश्यक आर्थिक साधन जुटाने चाहिये अन्यथा अकर्मण्यता के कारण राज्य ऐसे चक्रव्यूह में पड़ जायगा, जिससे बाहर निकलना उसके लिए कठिन होगा। राज्य उद्योग इसलिए हस्तांतरित नहीं कर सकता, क्योंकि उसके आर्थिक साधन कम हैं और उसके आर्थिक साधन इसलिए नहीं बढ़ सकते, क्योंकि उद्योगों का लाभ अधिकतर वैयक्तिक पूँजीपतियों के हाथों में चला जाता है। सीमित आर्थिक साधनों की समस्या एक ही प्रकार से सुलझ सकती है—लाभ के स्रोत अर्थात् उद्योग पर राज्य का अधिकार होना चाहिये। कुछ लोग शायद करों को आर्थिक साधन का स्रोत बताएँ, परंतु यह सर्वविदित तथ्य है कि

पूँजीवादी अर्थ-व्यवस्था में कर लगाने की एक सीमा होती है जिसके ऊपर यदि कर लगाया जाय तो उत्पादन में कमी होना आरम्भ हो जाता है। इस सीमा के ऊपर कर लगाने से उद्योगपति के लाभ की दर में कमी आती है। इस कमी को पूरा करने के लिए उद्योगपति उत्पादन में कमी करते हैं, ताकि वस्तु की कीमत बाजार में बढ़ जाय और उन्हें पूर्ववत् लाभ की दर मिलती रहे। यह स्पष्ट है कि एक सीमा के ऊपर यदि कर लगाया गया तो उत्पादन में कमी होगी, जिसके फलस्वरूप राष्ट्रीय आय में कमी होगी अतः राजकीय आय के लिए असीमित कर नहीं लगाये जा सकते। कलकत्ता के भारतीय व्यापार-मण्डल (इंडियन चेम्बर ऑफ कामर्स) ने सरकार की औद्योगिक नीति पर अपना मत प्रकट करते हुये वर्तमान करों में आमूल परिवर्तन करने की माँग की थी, जिससे नागरिक कुछ सञ्चय कर सकें और उद्योगों में लगा सकें। मंडल की राय में करों की वर्तमान दर सञ्चय में वाधक है और विनियोग के लिये दंड के समान है। इसलिए हमारे विचार से राज्य को करों पर अधिक निर्भर न रह कर आय के एक दूसरे और बड़े स्रोत पर अधिकार जमाना चाहिये।

औद्योगिक नीति पर भाषण देते हुए पंडित नेहरू ने राष्ट्रीयकरण के विरुद्ध और एक नई युक्ति दी थी—"उत्पादन की कला और क्रियाओं में बहुत तेजी के साथ परिवर्तन हो रहा है। परन्तु फिर भी कुछ लोग जैसे समाजवादी और साम्यवादी इस बात की ओर ध्यान न देकर केवल पुरानी सामाजिक व्यवस्था के आधार पर राष्ट्रीयकरण की माँग करते चले जा रहे हैं। वे उत्पादन के परिवर्तनों की ओर ध्यान नहीं देते। उनका मुख्य लक्ष्य वैयक्तिक उत्पादक-साधनों को हस्तान्तरित करना रहता है, जो कि ६० प्रतिशत पुराने ढंग के हैं। यंत्र कला की उन्नति की दृष्टि से इन पुराने कारखानों

को हस्तान्तरित करना राष्ट्रीय पूंजी का अपव्यय करना होगा।" इस युक्ति में परिवर्तनशील यंत्रकला की ओर हमारा ध्यान आकर्षित किया गया है और इसके कारण कुछ समय के लिए राष्ट्रीयकरण को स्थगित करने का सुझाव दिया गया है। परन्तु यांत्रिक कला कभी भी स्थिर नहीं रहती। उत्पादन की जिन क्रियाओं के लिए हमें कुछ वर्षों के लिए रुकने के लिये कहा गया है, वे १०-१२ वर्ष के पश्चात् पुरानी बन जायेंगी। औद्योगीकरण अनुसंधान और अन्वेषणों के लिये रुका नहीं रहता है। वास्तव में ज्यों-ज्यों औद्योगीकरण बढ़ता है, त्यों-त्यों उत्पादन की क्रियाएँ अधिक परिष्कृत होती चली जाती हैं। साथ ही हमें यह भी नहीं भूलना है कि आज के हमारे पुराने ढंग के कारखाने ही हमारे औद्योगिक संगठन के आधार हैं। उनके द्वारा ही प्रति वर्ष करोड़ों की राशि में लाभ कमाया जा रहा है। जब कि एक ओर पुराने ढंग की मशीनों की भी हमारे यहाँ कमी है और दूसरी ओर पदार्थों की कमी है तो ऐसी अवस्था में यांत्रिक प्रगति की दौड़ में सबके साथ चलते रहना बड़ा कठिन कार्य मालूम पड़ता है। जूट, अभ्रक, चाय, मेगनीज निर्यात के द्वारा प्रति वर्ष हम विदेशी विनिमय कमाते हैं। इनका राष्ट्रीयकरण करने में राजकीय आय बढ़ेगी और आयोजित अर्थ-व्यवस्था की नींव डालने के लिए राज्य के साधन अधिक विकसित होंगे। यदि यांत्रिक प्रगति की दृष्टि से भी देखा जाय तो यह स्पष्ट है कि वैयक्तिक पूंजी यांत्रिक उन्नति इतनी अधिक नहीं कर सकती, क्योंकि उसका मुख्य उद्देश्य लाभ है, न कि यांत्रिक अनुसंधान। उद्योग-धंधों में पूंजी लगाने वाले व्यक्ति भी यान्त्रिक प्रगति के लिये अपनी पूँजी नहीं लगावेंगे, क्योंकि उनका मुख्य उद्देश्य थोड़े ही समय में लाभार्जन करना होता है। यान्त्रिक विकास के लिये अतुल पूँजी की आवश्यकता होती है, बड़े-बड़े विशेषज्ञों की सहायता की आवश्यकता होती है, जो कि

केवल सरकार के लिये ही सम्भव है। आज की वैयक्तिक पूँजी पर चलने वाले उद्योग वैज्ञानिक और औद्योगिक अनुसंधान पर बहुत कम खर्च करते हैं। अनुसंधान की प्रायः सभी संस्थाएँ राज्य द्वारा स्थापित की गई हैं।

राज्य की औद्योगिक नीति के विश्लेषण से स्पष्ट है कि वर्तमान सरकार उद्योग-धंधों का निकट भविष्य में संपूर्ण राष्ट्रीयकरण नहीं करना चाहती। परन्तु फिर भी पूँजी और श्रम के सहयोग के महत्व को वह स्वीकार करती है और राष्ट्रीयकरण के अतिरिक्त अन्य उपायों के द्वारा वह औद्योगिक शान्ति कायम रखने के लिये उत्सुक है। उसने औद्योगिक लाभ के वितरण के लिए कुछ योजनाएँ बनाई हैं, जिससे उद्योगपतियों और श्रमिक-वर्ग में संघर्ष उत्पन्न न हो। दिसम्बर १९४७ में औद्योगिक सम्मेलन में जो औद्योगिक शांति के संबंध में प्रस्ताव पास किया गया था, उसका औद्योगिक नीति वाले प्रस्ताव में समर्थन किया गया है। राज्य का मत है कि पूंजी और श्रम के पारिश्रमिक का वितरण इस प्रकार किया जाना चाहिये कि जिससे उपभोक्ता और उत्पादक के हितों की रक्षा की जा सके तथा कर इत्यादि के द्वारा अत्यधिक लाभ को कम किया जा सके। परंतु इसके साथ-साथ मजदूरों को समुचित मजदूरी की दर भी मिलनी चाहिये। उद्योग में लगी हुई पूँजी पर संतोषजनक लाभ की दर भी होना चाहिये और उद्योग के विकास के लिये काफी गुंजाइश भी रहना चाहिये। सरकार ने यह सिद्धान्त माना है कि लाभ में श्रम का भाग उत्पादन की मात्रा के अनुसार घटता-बढ़ता रहना चाहिये। उद्योगों के राज्य की सामान्य देखरेख के अतिरिक्त केन्द्र और प्रान्तों में ऐसे संगठन स्थापित करने की भी योजना है, जो मजदूरी की दर, लाभ और मजदूरों की स्थिति के बारे में सलाह दे सकें। राज्य ने आश्वासन दिया है कि औद्योगिक उत्पादन संबंधी सभी

प्रश्नों पर विचार करते समय वह श्रमिक वर्ग के दृष्टिकोण को भी ध्यान में रखेगा।

औद्योगिक नीति सिद्धांतों पर आधारित है। वे निस्संदेह सराहनीय हैं और तुरन्त कार्यान्वित किये जाने योग्य हैं। परन्तु सबसे बड़ी समस्या तो यह है कि क्या शासक के पास इन सिद्धान्तों को कार्यान्वित करने के लिए पर्याप्त उत्साह और शक्ति है। अब तक केवल शासक ने हड़तालों की संख्या कम करने में ही सफलता प्राप्त की है। मजदूरों की स्थिति में कोई उन्नति अब तक नहीं हो पाई है। इस समय जो औद्योगिक शांति दिखाई पड़ती है उसका मुख्य कारण पूँजी और श्रम में पारस्परिक समझौता नहीं परंतु औद्योगिक दबाव है। आज भी पूँजीपतियों को पहले के अनुसार अधिकार हैं और श्रमिक वर्ग की अपेक्षा उसकी स्थिति अधिक शक्तिशाली है। प्रस्ताव में वर्तमान औद्योगिक संगठन को बनाये रखने का आश्वासन दिया गया है जिससे स्पष्ट है कि इस समय जो उद्योगपतियों को उच्चतर अधिकार प्राप्त हैं, वे पूर्ववत् कायम रहेंगे। केन्द्रीय विधान सभा के मजदूर प्रतिनिधि श्री खंडू भाई देसाई ने कहा था कि इसमें संदेह नहीं कि यदि नीति कार्यान्वित की गई तो उससे सारे राष्ट्र का ही कल्याण होगा। परन्तु सरकार को इस बात से भी सतर्क रहना चाहिये कि पूँजीपति लोग नीति के कार्यान्वित करने में अनेक बाधाएँ उपस्थित करेंगे। जिस अनुपात में राज्य इस नीति को कार्यान्वित करता चला जायगा, उसी अनुपात में श्रमिक वर्ग का इस नीति के प्रति सहयोग और प्रोत्साहन बढ़ता चला जायगा। दुर्भाग्य से अब तक राज्य इस नीति को अधिक कार्यान्वित करने में सफल नहीं हुआ है और श्रमिक वर्ग में प्रोत्साहन जागृत नहीं कर पाया है। इसीलिए अनेक प्रान्तों में औद्योगिक शान्ति भंग हो गई है और इसके फलस्वरूप उत्पादन में कमी हुई है।

देश के आर्थिक इतिहास में सबसे पहले राज्य ने इस प्रस्ताव द्वारा ग्रामोद्योगों को देश की औद्योगिक व्यवस्था में स्थान दिया है। ग्रामोद्योग वैयक्तिक, सामूहिक और सहकारी सभी प्रकार के प्रयत्नों को विकास का अवसर प्रदान करते हैं। इनके द्वारा स्थानिक साधनों का उपयोग हो सकता है। खाद्यान्न, कपड़ा और कृषि के औजारों इत्यादि में स्थानिक आत्मनिर्भरता प्राप्त की जा सकती है। इनके लिये कच्चे माल, बिजली, यान्त्रिक सहायता, पक्के माल की बिक्री इत्यादि का प्रबन्ध करना चाहिये और जहाँ आवश्यक हो, बड़े कारखानों की प्रतिस्पर्धा से इनकी रक्षा करनी चाहिये। ग्रामोद्योगों की समस्या वास्तव में प्रादेशिक क्षेत्र में आती है, और इसलिये केन्द्रीय सरकार स्वयं कोई कार्यवाही नहीं कर सकती। फिर भी संघीय सरकार ने इनकी समस्याओं के संबंध में जाँच करने का आश्वासन दिया है कि इनका बड़े उद्योग-धंधों से किस प्रकार संबद्धीकरण किया जा सकता है।

घोषणा में यह स्वीकार किया गया है कि वर्तमान अंतर्राष्ट्रीय परिस्थिति को देखते हुए विदेशों से मशीनें और कल-पुरज़े मँगवाने की सम्भावना कम होने जा रही है। इसलिये औद्योगीकरण को आगे बढ़ाने का एक ही मार्ग है—सारे देश में छोटी-छोटी औद्योगिक सहकारी समितियाँ स्थापित की जायँ। सरकार के इस मत का विश्लेपण करने पर हम इसी निर्णय पर पहुँचते हैं कि ग्रामोद्योगों को प्रोत्साहन देने का मुख्य कारण कोई आर्थिक आदर्श नहीं, परन्तु केवल परिस्थिति की परवशता है। अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थिति बदलती रहती है। हो सकता है कि कुछ समय के पश्चात् हम विदेशों से मशीनें और कल-पुरज़े मँगवा सकें। तो क्या ऐसी परिस्थिति में राज्य की ओर से ग्रामोद्योगों को प्रोत्साहन और सहायता मिलनी बंद हो जायगी? राज्य की घोषणा में भारत की श्रम-

बहुलता, ग्रामीण-बेकारी इत्यादि का कहीं जिक्र नहीं। उसमें यह भी नहीं बताया गया है कि ग्रामोद्योगों के द्वारा ग्रामीण क्षेत्रों की प्रति मनुष्य आय और जीवन-स्तर में उन्नति की जा सकती है। ग्रामोद्योग सम्पत्ति के वितरण की समस्या को हल करने की भी सामर्थ्य रखते हैं और धन इने-गिने व्यक्तियों के हाथों में संचित नहीं होने पाता। इसका नीति में कहीं जिक्र नहीं है। यह नीति कांग्रेस सरकार द्वारा बनाई गई है और कांग्रेस गांधी जी के आर्थिक आदर्शों को अपना लक्ष्य मानती है। परन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि इस नीति पर उन आदर्शों का बहुत कम प्रभाव पड़ा है। विकेन्द्रीकरण और ग्रामीण आत्मनिर्भरता के द्वारा ही हम गांव की आर्थिक उन्नति कर सकते हैं। इसी नीति के द्वारा वहां की जनता को पूरा रोजगार दिया जा सकता है। अनेक बार गांधी जी ने इस अकाट्य तथ्य को देश के सामने रखा था। कांग्रेस द्वारा नियुक्त आर्थिक प्रोग्राम समिति ने भी इस सिद्धान्त को स्वीकार करते हुए लिखा था कि "देश की सुरक्षा, ग्रामीण और शहरी अर्थ-व्यवस्था में संतुलन, प्रत्येक नागरिक के लिये एक न्यूनतम जीवन-स्तर और पूरा रोजगार केवल विकेन्द्रित अर्थ-व्यवस्था के द्वारा ही हो सकता है। जहाँ तक हो सके, खाद्य-सामग्री, कपड़ा और अन्य उपयोग्य वस्तुओं का उत्पादन विकेन्द्रित अर्थ-व्यवस्था के अंतर्गत ही होना चाहिये, जिसका आधार सहकारी समितियां हों। इस समय जो देश की परिस्थिति है, उसको देखते हुए हमारा जोर उन्हीं योजनाओं पर अधिक होना चाहिये, जिनके द्वारा गाँवों में रोजगार फैलाया जा सके और कम से कम मशीन और विदेशी कल-पुर्जों की आवश्यकता पड़े। बड़े उद्योगधन्धों का उपयोग ग्रामोद्योगों की उत्पादन कुशलता और आर्थिक स्थिति में उन्नति करने के लिये किया जाना चाहिये। हमारे विचार से इस मूल तथ्य को औद्योगिक

नीति निर्धारित करते समय केन्द्रीय सरकार ने ध्यान में नहीं रखा है। यह ठीक है कि ग्रामोद्योग प्रादेशिक क्षेत्र में आते हैं और संघीय सरकार वर्तमान विधान के अंतर्गत अपने को इस उत्तरदायित्व से दूर रख सकती है, परन्तु राज्य द्वारा घोषित औद्योगिक नीति आगामी १० वर्षों तक हमारे औद्योगिक विकास को प्रभावित करेगी। नवीन विधान में आर्थिक और सामाजिक संयोजन संगामी सूची (कानकरेन्ट लिस्ट) में रखा गया है। विकास योजनाओं को प्रादेशिक सरकारें ही कार्यान्वित करेंगी, परन्तु आर्थिक योजनाओं का संबद्धीकरण और नियंत्रण राष्ट्रीय पैमाने पर केवल संघीय सरकार ही कर सकती है। ग्रामोद्योग भारत के औद्योगिक संयोजन में बहुत महत्वपूर्ण स्थान रखते हैं। उनका बड़े उद्योग-धंधों से संबद्धीकरण प्रादेशिक स्तर पर नहीं किया जा सकता। इसी प्रकार बड़े उद्योगधंधों की प्रतिस्पर्धा से रक्षा, ग्रामोद्योगों द्वारा निर्मित माल की बिक्री, बड़े उद्योगधंधों का विकेन्द्रीकरण और सस्ती दर पर बिजली का प्रबन्ध राष्ट्रीय पैमाने पर ही किया जा सकता है। ये कार्य प्रादेशिक सरकारों पर नहीं छोड़े जा सकते।

औद्योगिक नीति सम्बन्धी प्रस्तावों का विश्लेषण करने के पश्चात् हम निम्न निष्कर्षों पर पहुँचते हैं—

(१) राज्य का बड़े उद्योगधंधों के राष्ट्रीयकरण के प्रश्न के प्रति रुख अनिश्चित, ढीला और अप्रगतिशील प्रतीत होता है। प्रस्ताव के अंतर्गत वैयक्तिक पूँजी और राजकीय औद्योगिक क्षेत्रों का जो विवरण दिया गया है उसके अनुसार आगामी १० वर्षों तक वैयक्तिक पूँजी के क्षेत्र में किसी भी प्रकार का परिवर्तन होने की सम्भावना नहीं है।

(२) श्रम और पूँजी के सम्बन्ध में जिन सिद्धान्तों का विवेचन किया गया है उनमें कोई त्रुटि नहीं है, परन्तु उन सिद्धान्तों को

सफलता के लिये एक ओर सुसंगठित मजदूर आंदोलन होना चाहिये और दूसरी ओर प्रगतिशील उद्योगपति का वर्ग होना चाहिये। दुर्भाग्य से हमारे देश में इन दोनों ही बातों का प्रायः अभाव है। नीति घोषणा के पश्चात् देश में जो आर्थिक घटनाएँ हुई हैं, उनसे स्पष्ट सिद्ध होता है कि मजदूरों और मिल मालिकों में पारस्परिक सहयोग की संभावना नहीं है।

(३) ग्रामोद्योगों के सम्बन्ध में नीति बहुत ही असंतोषजनक है। गांधीजी द्वारा निर्मित और पोषित कांग्रेस के आर्थिक आदर्श की इस नीति में अवहेलना की गई है। यदि पूर्ण रूप से इस नीति को कार्यान्वित किया गया तो भारत में पाश्चात्य ढंग का औद्योगीकरण हो जायगा और देश में ग्रामीण क्षेत्रों को हम आत्मनिर्भर नहीं बना सकेंगे।

पंचवर्षीय योजना में औद्योगिक विकास

भारत के औद्योगिक विकास के लिये पंचवर्षीय योजना में एक निश्चित और स्पष्ट कार्यक्रम का समावेश किया गया है। देश के उद्योगधंधों का विकास इतना अव्यवस्थित रूप से हुआ है कि औद्योगिक सङ्गठन की नींव अभी भविष्य की प्रगति के लिये काफी मजबूत नहीं है। कुछ उद्योगों की बिल्कुल अवहेलना की गई है और कुछ का विकास योजनारहित रीति से हुआ है। देश के आर्थिक विकास के लिये पंचवर्षीय योजना से पूर्व प्रकाशित योजनाओं में इसी कारण औद्योगिक विकास का संतुलित चित्र नहीं है। इसीलिये पञ्चवर्षीय योजना में सर्वप्रथम वर्तमान औद्योगिक सङ्गठन का विश्लेषण कर उसके दोषों पर प्रकाश डाला गया है। गत ३० वर्षों में भारत की औद्योगिक प्रगति के कारण अधिकांश में उपभोग्य वस्तुओं के निर्माण से सम्बन्धित उद्योगों का ही विकास हुआ है। कपड़ा, शक्कर, नमक, साबुन, चमड़ा और कागज के उद्योग इस समय देश की वर्तमान आवश्यकताओं की पूर्ति कर सकते हैं। अर्धनिर्मित माल (इन्टरमीडिएट) जैसे स्पात, सीमेंट, रासायनिक पदार्थ, धातु इत्यादि के उद्योग भी देश में स्थापित हो गये हैं, परंतु ये देश की माँग पूरी नहीं कर सकते। रेडियो, सायकिल, बिजली के पंखे, मोटरें, बिजली का सामान भी देश में बनने लगा है। जहाज निर्माण करने के बंदरगाह के अतिरिक्त अब भारत में मशीन, कल-पुरजे, डीसिल इंजन इत्यादि भी बनने आरम्भ हो गये हैं। परंतु अभी वे प्रारम्भिक अवस्था में ही हैं। सम्पूर्ण औद्योगिक विकास पर दृष्टि डालने से यह स्पष्ट प्रतीत

होता है कि उपभोग्य वस्तुओं वाले उद्योग तो अच्छी तरह से स्थापित हो चुके हैं, परंतु उत्पादक वस्तुओं (प्रोड्यूसर्स) वाले उद्योगों का अभी आवश्यकतानुसार विकास नहीं हुआ है।

युद्ध और युद्धोत्तर काल में स्थापित हुए उद्योगों की स्थिति भी संतोषजनक नहीं है। ये उद्योग मुद्रा-स्फीति (इन्फ्लेशन) के समय में आरम्भ किये गये थे जब कि सारे संसार में वस्तुओं की कमी थी और किसी भी प्रकार की वस्तु किसी भी कीमत पर बेची जा सकती थी। इन उद्योगों को स्थापित करते समय उद्योगपतियों ने यह कभी नहीं सोचा कि ये उद्योग प्रतिस्पर्धा के वातावरण में भी चलाये जा सकेंगे या नहीं। कच्चे माल, बाजार की माँग, आर्थिक संगठन और औद्योगिक शिल्प की दृष्टि से इन नये उद्योगों में अनेक दोष हैं। जब तक इनका पुनर्संगठन नहीं किया जाता, युद्ध और युद्धोत्तर कालीन उद्योगों का भविष्य आशामय नहीं माना जा सकता।*

अधिकांश उद्योगों पर स्वामित्व और प्रबंध "मैनेजिंग एजेन्सी" की पद्धति के द्वारा होता है। कुछ वर्षों से राज्य ने उद्योगधंधों में पूँजी लगाना आरम्भ किया है। परंतु राजकीय पूँजी बहुत कम अनुपात में लगी हुई है। प्रायः सारे औद्योगिक क्षेत्र पर वैयक्तिक पूँजी का ही अधिकार है। "मैनेजिंग एजेन्ट्स" अनेक प्रकार के उद्योगों के कारखानों का प्रबन्ध ठेके के आधार पर लम्बे अरसे तक करते रहे हैं। उनके लाभ की दर का आधार, उत्पादन की मात्रा और बिक्री या सकल लाभ रहता है। औद्योगीकरण के प्रारम्भिक काल में निस्संदेह इस पद्धति से लाभ हुये थे, परन्तु इस समय यह अनेक प्रकार की त्रुटियों का कारण बन गई है। मैने-

* फाइव इयर प्लान, पृष्ठ १४३; फिसकल कमीशन रिपोर्ट, पृष्ठ ११।

जिंग एजेन्टों और कम्पनी के हिस्सेदारों के हितों में संघर्ष साधारण बात बन गई है। स्वयं मैनेजिंग एजेण्ट अपने स्वामित्व के अधिकार अनेक बार बेचते रहते हैं जिसका उद्योग की स्थिति पर अवांछनीय प्रभाव पड़ता है। अनेक कम्पनियों में आर्थिक गठबंधन हो जाते हैं, बिक्री में असामाजिक तरीके इस्तेमाल किए जाते हैं, उद्योग के सङ्गठन की प्रगति रुक जाती है, हिसाब में अव्यवस्था फैलती है और बिक्री और खरीद की व्यवस्था बिगड़ जाती है। इन सब का औद्योगिक कुशलता पर अहितकारी प्रभाव पड़ता है। अत: भविष्य में औद्योगिक विकास की गति जारी रखने के लिए मैनेजिंग एजेन्सी में सुधार करने की आवश्यकता है।

१९३९ से भारत के अधिकांश उद्योगों के उत्पादन में ह्रास हो रहा है। युद्धपूर्व के उत्पादन से तुलना करने पर तो ऐसा लगता है कि इस समय अनेक उद्योगों में उत्पादन वृद्धि हुई है, परंतु वास्तव में प्रति श्रमिक उत्पादन में (आउट पुट पर वर्कर) ह्रास ही हुआ है। स्वभावत: इससे प्रति इकाई उत्पादन व्यय (कॉस्ट ऑफ प्रोडक्शन पर यूनिट) बढ़ गया है। विशेषज्ञों का अनुमान है कि औसतन् २० से ३० प्रतिशत तक उत्पादन में ह्रास हो गया है। इसके अनेक कारण हैं। युद्ध और युद्धोत्तर काल में कारखानों में दो शिफ्ट में काम हुआ है, उनकी मशीनें घिस चुकी हैं। परन्तु अभी तक उनके स्थान पर नई मशीनें नहीं लगाई जा सकी हैं और इसलिये उनकी उत्पादन शक्ति कम हो गई है। उद्योगों को कच्चा माल पर्याप्त, अच्छी किस्म का और समय पर नहीं मिलता। कारखानों के आंतरिक संगठन का स्तर अब उतना अच्छा नहीं है। वस्तु की कमी और ऊँची कीमतों के कारण ही अयोग्य कारखाने टिके हुए हैं, अन्यथा कुशलता की कमी के कारण वे कभी के बंद हो जाते। गिरती हुई उत्पादन कुशलता के कारण प्रति इकाई उत्पादन व्यय

बढ़ रहा है जिसके फलस्वरूप बाजारों में कीमतें भी बढ़ रही हैं। संक्षेप में वर्तमान औद्योगिक सङ्गठन में कमीशन ने निम्न दोष बताये हैं :—

(१) देश के मूल उद्योगों और उत्पादन वस्तुएँ बनाने वाले उद्योगों का देश की आवश्यकतानुसार विकास नहीं हुआ है।

(२) युद्ध और युद्धोत्तर कालीन उद्योगों में अभी स्थायित्व नहीं आया है।

(३) उद्योगों का प्रबन्ध मैनेजिंग एजेन्सी के अन्तर्गत होने के कारण त्रुटिपूर्ण है।

(४) गत १०-१२ वर्षों से उत्पादन कुशलता घट रही है और उत्पादन व्यय बढ़ता जा रहा है।

औद्योगिक संयोजन के उद्देश्य और पूर्वता का क्रम

सर्वांगीण आर्थिक विकास के लिये देश के साधन सीमित हैं और साथ ही कृषि उत्पादन में वृद्धि करने वाली योजनाओं को सर्वोच्च पूर्वता दी गई है। अतः औद्योगिक विकास के लिये साधन सीमित हैं। इन सीमित साधनों का उपयोग करते समय अनेक बातों को ध्यान में रखना आवश्यक होगा। मुख्यतया औद्योगिक संयोजन के निम्न उद्देश्य होने चाहिये :—

(अ) कृषि, सिंचाई और बिजली की योजनाओं को कार्यान्वित करने के लिये औद्योगिक माल की आवश्यकताओं को पूरा करना चाहिये।

(ब) वर्तमान उद्योगों की उत्पादन शक्ति का पूर्ण उपयोग कर आवश्यक उपभोग्य वस्तुओं में लक्षित वृद्धि करनी चाहिये।

(स) मूल उद्योगों जैसे लोहा, स्पात, भारी रासायनिक पदार्थ इत्यादि की उत्पादन शक्ति बढ़ाई जानी चाहिये।

(ड) वर्तमान औद्योगिक ढाँचे के दोषों को दूर करना चाहिये।

उपर्युक्त उद्देश्यों की पूर्ति के हेतु कमीशन ने विकास योजना में पूर्वता का क्रम (ऑर्डर ऑफ प्रायारिटी) निम्न प्रकार रखा है :—

(१) वर्तमान उत्पादक वस्तुएँ निर्माण करने वाले उद्योगों जैसे जूट उद्योग एवं उपभोग्य वस्तुएँ निर्माण करने वाले उद्योगों की पूर्ण उत्पादन शक्ति का उपयोग;

(२) उत्पादन वस्तुएँ निर्माण करने वाले उद्योगों जैसे स्पात, सीमेंट, खाद, भारी रसायन, मशीन, कल पुर्जे इत्यादि की उत्पादन शक्ति का प्रसार; तथा

(३) जिन उद्योगों पर पूँजीगत व्यय पहले ही हो चुका है उनको पूरा करना।

निश्चित उद्देश्यों के अनुसार विभिन्न उद्योगों को पूर्व निर्धारित पूर्वता देने के लिये कमीशन ने उद्योगों को तीन श्रेणियों में विभक्त किया है—सुरक्षा संबंधी उद्योग, उत्पादक वस्तुएँ निर्माण करने वाले उद्योग और उपभोग्य वस्तुएँ निर्माण करने वाले उद्योग। सुरक्षा संबंधी उद्योगों पर स्वामित्व और प्रबंध राज्य का ही रहेगा। उनके सङ्गठन, प्रबंध, उत्पादन इत्यादि का संचालन सुरक्षा विभाग की नीति के अनुसार ही होगा। उत्पादक-वस्तुओं से संबंधित उद्योग जैसे स्पात, सीमेंट, खाद, कृषि के औजार, डीसिल इंजन, बिजली की मशीनरी, पम्प इत्यादि की कृषि, सिंचाई और बिजली के विकास के लिये बहुत आवश्यकता होगी। केवल स्पात और सीमेंट को छोड़ अभी इन सारे उद्योगों की नींव मजबूत नहीं है। ये देश में सफलतापूर्वक चल सकेंगे यह अभी निश्चित नहीं है। स्पाद, सीमेंट और खाद के उद्योग में, जो देश में अच्छी तरह स्थापित हो चुके हैं और जिनकी माँग निकट भविष्य में बढ़ने वाली है, वृद्धि करनी चाहिये। अल्युमिनियम, भारी रसायन, रेल इंजन, कलपुर्जे

और जहाजी निर्माण को भी प्रोत्साहन देना चाहिये। परन्तु मूल उद्योगों में सबसे अधिक जोर लोहे और स्पात उद्योग के विकास पर देना चाहिये। इस समय उनमें जो उत्पादन होता है वह भी देश की आवश्यकता से कम होता है। कृषि, उद्योग और यातायात के विकास के लिये तथा सुरक्षा सम्बन्धी उद्योगों के लिये लोहे और स्पात की और भी अधिक आवश्यकता पड़ेगी। अतः इस उद्योग को सर्वोच्च पूर्वता देना जरूरी है। शायद पंचवर्षीय योजना के काल में स्पात का कारखाना उत्पादन करने की स्थिति तक न पहुँच सके, परन्तु फिर भी नये कारखाने के स्थापित करने के लिये प्रयत्न आरंभ कर देने चाहिये।

आवश्यक उपभोग्य वस्तुएँ निर्माण करने वाले उद्योगों जैसे कपड़ा, शक्कर, नमक, दियासलाई और साबुन की उत्पादक शक्ति देश की आवश्यकतानुसार है। परन्तु कच्चे माल की कठिनाइयां तथा अकुशल कारखानों के कारण वास्तव में आवश्यक उत्पादन होता नहीं है। इन उद्योगों में नये कारखाने स्थापित न करके उनकी असुविधाएँ ही दूर करना ठीक होगा। कमीशन ने योजना के काल में इन उद्योगों के नये कारखाने स्थापित करने के विरुद्ध राय जाहिर की है। कच्चे माल की कमी दूर करके, नई मशीनरी के द्वारा उत्पादक शक्ति का विकास कर अलाभकारी कारखानों को पुनर्संगठित कर तथा आन्तरिक प्रबन्ध को शास्त्रीय बनाकर इन उद्योगों की उत्पादक शक्ति का पूर्ण उपयोग किया जाना चाहिये। वे उद्योग जो कम आवश्यक प्रकार की अथवा विलासिता की वस्तुएँ बनाते हैं जैसे रेडियो, बिजली के पंखे, बायसिकिल इत्यादि उन्हें द्वितीय श्रेणी की पूर्वता देनी चाहिये। परन्तु जिनमें पहले पूँजी लगाई जा चुकी है और जिनका भविष्य उज्ज्वल प्रतीत होता है, उन्हें विकास के लिये अवसर मिलना चाहिये।

बहुत बड़ा भाग कृषि, सिंचाई और विद्युत् के विकास में लग जायगा। इसलिये राज्य की ओर से उद्योगों में अधिक पूँजी लगाये जाने की सम्भावना नहीं है। राज्य आने वाले पाँच वर्षों में उन्हीं उद्योगों में पूंजी लगायेगा जो पहले से ही आरम्भ किये जा चुके हैं या जिनका आरम्भ करना औद्योगिक विकास के लिये अत्यन्त आवश्यक है। इससे स्पष्ट है कि औद्योगिक क्षेत्र में उत्पादन वृद्धि का उत्तरदायित्व वैयक्तिक पूँजी पर ही रहेगा। योजना के उद्देश्यों और उसके आवश्यक नियमों के अन्तर्गत रहते हुए वैयक्तिक पूँजी को उत्पादन वृद्धि करने की स्वतंत्रता रहेगी। कमीशन का निश्चित मत है कि भारत के आर्थिक विकास के लिये वैयक्तिक साहस और राजकीय साहस दोनों ही आवश्यक हैं। परंतु संयोजित अर्थ व्यवस्था में वैयक्तिक साहस के स्वरूप और कार्य उसके वर्तमान स्वरूप और कार्य से भिन्न होंगे। उसे राष्ट्र की केवल आर्थिक नीति और सामाजिक उद्देश्य ही स्वीकार नहीं करने होंगे, परन्तु मजदूरों, पूंजी लगाने वालों और उपभोक्ताओं के प्रति भी अपने कर्त्तव्यों का पालन करना होगा। उसे राष्ट्रीय हितों के अनुसार कार्य करना होगा तथा राष्ट्र के साधनों का सदुपयोग करना होगा। राज्य द्वारा निर्धारित नियंत्रण और नियमन में उसे पूर्ण सहयोग देना आवश्यक होगा। राज्य को भी उद्योग और श्रमिक में पारस्परिक विश्वास और सहयोग का वातावरण निर्माण करना होगा जिससे संयोजन के उद्देश्यों की पूर्ति के लिए उत्पादक साधनों का समुचित उपयोग हो सके। राज्य के पास पर्याप्त वैधानिक अधिकार भी होने चाहिये, जिससे उद्योग को राष्ट्र-कल्याण की दिशा में अग्रसर करने में समर्थ हो सके। कमीशन ने अपना निश्चित मत प्रकट किया है कि वैयक्तिक साहस के इस नवीन दृष्टिकोण के बिना योजना सफल नहीं हो सकती। उत्पादन के उल्लिखित लक्ष्य कमीशन ने

उद्योगों के प्रतिनिधियों से विचार विनिमय करके ही निर्धारित किये हैं। ये लक्ष्य पूर्वता के क्रम के अनुसार ही हैं। उनके बारे में जाँच कर ली गई है। अनेक उद्योगों ने नई मशीनों के लिये आदेश दे दिये हैं और आशा की जाती है कि उद्योग अपनी उत्पादन शक्ति का पूर्ण उपयोग करेंगे।

योजना में औद्योगिक व्यवस्था का दूसरा भाग लोक क्षेत्र (पब्लिक क्षेत्र) माना गया है। ६ अप्रैल १९४८ को औद्योगिक नीति पर घोषित प्रस्ताव द्वारा उद्योगों में लोक-क्षेत्र और वैयक्तिक क्षेत्र निर्धारित किये गये हैं। कमीशन ने इस प्रस्ताव के आधार पर अपनी नीति निश्चित की है। इस प्रस्ताव के अनुसार सैनिक सामग्री, अणु-शक्ति और रेल यातायात पर राज्य का स्वामित्व और प्रबन्ध रहेगा। कोयले, लोहे, स्पात और वायुयान निर्माण इत्यादि के विकास के लिये राज्य उत्तरदायी होगा। परन्तु यदि राज्य उचित समझे तो वैयक्तिक पूँजी का भी सहयोग ले सकेगा। उपर्युक्त उद्योगों को छोड़कर अन्य सारा औद्योगिक क्षेत्र वैयक्तिक पूँजी के लिए खुला रहेगा। परन्तु साथ ही सरकार ने ऐसे १८ उद्योगों की सूची घोषित की है जिन पर राज्य का नियंत्रण और नियमन रखा जा सकेगा और यदि किसी समय राष्ट्र हित की दृष्टि से उनका राष्ट्रीयकरण आवश्यक होगा तो राज्य को उन्हें हस्तान्तरित करने का अधिकार होगा। राजकीय नियंत्रण और नियमन मुख्यतया निम्न प्रकार के हो सकते हैं :—

(अ) पूँजी निर्गमन (कैपिटल इश्यू) नियंत्रण,

(ब) नये कारखानों के खोलने और पुराने कारखानों के प्रसार का अनुज्ञापन,

(स) आयात-निर्यात नियंत्रण तथा विदेशी विनिमय का वितरण,

(ङ) मूल्य नियंत्रण या अन्य प्रतिबंध। Control Price.

पंचवर्षीय योजना में यह स्पष्ट बता दिया गया है कि राज्य के साधन सीमित होने के कारण राजकीय उद्योगों की संख्या बहुत कम होगी। परन्तु फिर भी देश के आर्थिक विकास की दृष्टि से इन उद्योगों का विशेष महत्व है। सिंदरी का कृत्रिम खाद का कारखाना, चितरंजन रेलवे इंजन का कारखाना, केबिल फैक्टरी तथा अन्य मशीन, कल पुर्जे इत्यादि के कारखाने इनमें मुख्य हैं। इन कारखानों में उत्पादक वस्तुएँ ही बनाई जायँगी, जिनसे न केवल वर्तमान कारखानों का विकास होगा, वरन् नये उद्योग भी आरंभ किये जा सकेंगे। उद्योग केन्द्रीय सरकार के आधिपत्य में ही रहेंगे। प्रदेशों में भी इसी प्रकार के उद्योग आरम्भ किये जायँगे, जैसे मध्य प्रदेश में अखबारी कागज का कारखाना और मैसूर में नाइट्रोजन कृत्रिम खाद का कारखाना।

वैयक्तिक उद्योगों का संयोजन और नियमन

पंचवर्षीय योजना में औद्योगिक क्षेत्र को राजकीय और वैयक्तिक विभागों में विभक्त कर ऐसी औद्योगिक व्यवस्था का निर्माण करने का प्रयत्न किया गया है जिसके अन्तर्गत दोनों विभाग एक दूसरे के पूरक की तरह कार्य कर सकें, दोनों में सामंजस्य, सहयोग और पारस्परिकता के सम्बन्ध बने रहें। जैसा कि ऊपर के विवरण से स्पष्ट है कि देश का औद्योगिक विकास अधिकांश में वैयक्तिक उद्योगों पर ही निर्भर करेगा, अतः उन पर राजकीय नियंत्रण और नियमन रखना अत्यंत आवश्यक है ताकि भविष्य में उद्योग संपूर्ण अर्थ व्यवस्था के पूरक अंग बन सकें। इसी उद्देश्य से कमीशन ने १९४९ के उद्योग (विकास एवं नियंत्रण) विधेयक को जल्दी से जल्दी पास करने पर जोर दिया है। इस विधेयक के अनुसार कोई भी नया

कारखाना बिना राज्य की आज्ञा लिये स्थापित नहीं किया जा सकेगा और पुराने कारखाने भी राजकीय आज्ञा के बगैर अपना प्रसार नहीं कर सकेंगे। राज्य आज्ञा देते समय यदि आवश्यक समझे तो कारखाने के स्थान, आकार इत्यादि के बारे में शर्तें लगा सकेगा। यदि किसी उद्योग या कारखाने में उत्पादन और किस्म का ह्रास हो रहा है, या वस्तु के मूल्य में वृद्धि हो रही है, तो राज्य को इनकी जाँच करने का अधिकार होगा। राज्य उन उद्योगों की भी जाँच कर सकेगा, जिनमें राष्ट्रीय महत्व वाले कच्चे माल का उपयोग हो रहा है; या वे उद्योग जिनका प्रबन्ध हिस्सेदारों या उपभोक्ताओं के हितों के विरुद्ध किया जा रहा है। विधेयक के अनुसार राज्य ऐसे उद्योगों को हस्तान्तरित कर सकेगा, जिन्होंने उसके विकास एवं नीति सम्बन्धी आदेशों का पालन नहीं किया है। उपर्युक्त अधिकारों का उपयोग राज्य एक केन्द्रीय बोर्ड के द्वारा करेगा, जिसमें तीन सदस्य व्यापारिक, औद्योगिक एवं शैल्पिक अनुभव रखते होंगे। बोर्ड पूँजी-निर्गमन का नियंत्रण भी कर सकेगा। देश के सीमित साधनों के सदुपयोग तथा औद्योगिक कुशलता में वृद्धि करने की दृष्टि से ये अधिकार बड़े उपयोगी सिद्ध होंगे।

उद्योगों का राष्ट्रव्यापी संयोजन और नियंत्रण तभी सफल हो सकता है जब कि प्रत्येक उद्योग के आंतरिक प्रबन्ध के लिए अलग से संगठन हो। प्रत्येक महत्वपूर्ण उद्योग के लिये ऐसे संगठन की आवश्यकता है जो उस उद्योग का संयोजित अर्थ व्यवस्था में कार्य करने में सहायक एवं मार्गदर्शक सिद्ध हो सके। संयोजित एवं नियमित औद्योगिक विकास के लिये राजकीय हस्तक्षेप इतना महत्वपूर्ण नहीं है जितना कि ऐसा संगठन जो उद्योग के आंतरिक प्रबन्ध में उत्पादन स्तर, औद्योगिक कुशलता इत्यादि में सुधार कर सके। इस प्रकार का कुशल एवं राष्ट्र हित में कार्य करने वाला संगठन ही जनसाधा-

रण के हृदय में वैयक्तिक पूँजी के प्रति विश्वास उत्पन्न कर सकता है। कमीशन ने इस संगठन का नाम विकास परिषद् (डेवलपमेंट काउन्सिल) बताया है, जिसमें उद्योग, श्रम और शैल्पिक प्रबन्धकों के प्रतिनिधि होंगे जिनकी नियुक्ति राज्य करेगा। ये परिषदें केन्द्रीय बोर्ड एवं सरकार से सम्पर्क स्थापित करने के अतिरिक्त उत्पादन के लक्ष्य, प्रसामान्य कुशलता के स्तर, कुशलता वृद्धि के उपायों एवं उत्पादित वस्तु की बिक्री और वितरण के बारे में सिफारिश करेंगी। परिषद् का कार्य क्षेत्र इतना व्यापक है कि वह उद्योग की प्रायः सभी बड़ी समस्याओं को हल कर सकेगी। परिषद् की सहायता के लिए राज्य आवश्यक विशेषज्ञ एवं प्रबन्धक नियुक्त करेगा, जो कुछ समय पश्चात् विभिन्न उद्योगों के बारे में उत्पन्न उपयोगी ज्ञान और अनुभव प्राप्त कर लेंगे जिसका आगे चलकर राज्य उपयोग कर सकेगा।

विकास के लिए पूँजी

औद्योगिक नीति वाले प्रस्ताव के अनुसार जिन १८ उद्योगों को वैयक्तिक क्षेत्र के लिए छोड़ दिया गया है, उनके विकास के लिये कमीशन के अनुमान से लगभग १२५ करोड़ रुपये की आवश्यकता होगी। यह व्यय योजना पर होने वाले कुल व्यय का ६·७ प्रतिशत है। औद्योगिक विकास का उत्तरदायित्व अधिकांश में वैयक्तिक पूँजी पर ही छोड़ दिया गया है, इसलिये राज्य इस क्षेत्र में अधिक पूँजी नहीं लगायेगा। औद्योगिक विकास पर होने वाले राजकीय व्यय का लगभग एक तिहाई भाग वैयक्तिक उद्योगों को प्रोत्साहन देने पर व्यय किया जायगा। इससे स्पष्ट है कि १२५ करोड़ रुपये की पूँजी एकत्र करने के लिये वैयक्तिक उद्योगों को प्रायः सभी प्रकार के स्रोतों का आश्रय लेना होगा। कमीशन का अनुमान

है कि वैयक्तिक उद्योग आगामी पाँच वर्षों में लगभग ८०-९० करोड़ रुपये की पूँजी शेयर इत्यादि के द्वारा एकत्र कर सकेंगे। औद्योगिक अर्थ-निगम (इन्डस्ट्रियल फॉयनेन्स कारपोरेशन) तथा उसी के समान अन्य संस्थाओं के द्वारा भी १०-१५ करोड़ रुपये की पूँजी एकत्र की जा सकेगी। इतना होने पर भी कुछ ऐसे उद्योग बच जायँगे, जिनके लिये पूँजी विशेष प्रयत्नों के द्वारा एकत्र करनी होगी। उदाहरण के लिए कुछ ऐसे बड़े उद्योग होंगे जैसे इस्पात जिनमें एकमुश्त बहुत अधिक पूंजी की जरूरत पड़ेगी अथवा ऐसे उद्योग जिनमें लाभ थोड़े ही समय में नहीं आरम्भ हो सकता जैसे जहाज निर्माण। इस प्रकार के उद्योग यदि राष्ट्र हित की दृष्टि से मूल महत्व के हों तो राज्य को स्वयं अथवा अन्य अर्थ-संस्थाओं के द्वारा इनके लिए पूँजी एकत्र करनी होगी।

कमीशन की राय में नये उद्योगों के लिये पूँजी जुटाने की समस्या इतनी कठिन नहीं है जितनी कि पुराने उद्योगों के लिये मशीन व कल-पुर्जे बदलने के लिये रुपया प्राप्त करने की है। युद्ध-काल में मशीनों से काम तो दुगुना या तिगुना लिया गया है, परंतु टूट-फूट और नई मशीन जमाने पर बहुत कम खर्च किया गया है। युद्धकाल का यह सब काम अभी बाकी पड़ा है। इसी बीच में मशीन और कल पुर्जों के दाम भी दुगुने और तिगुने हो गये हैं। इसलिए अब पुराने कारखानों की टूट-फूट ठीक कराने और नई तरीके की मशीन बैठाने पर पहले की अपेक्षा दुगुना तिगुना व्यय होगा। जो कुछ धन कंपनियों ने इस कार्य के लिये बचाकर रखा था वह काफी नहीं है और उसमें से काफी भाग कारखानों में पूँजी के रूप में ले भी लिया गया है। इस कार्य के लिये लगभग १००-१५० करोड़ रुपये की आवश्यकता पड़ेगी। यह राशि इतनी बड़ी है कि एक दो वर्ष में ही एकत्र नहीं की जा सकती, इसलिये ५-७ वर्ष

में इसे बाँटना होगा। आयकर नियमों के अन्तर्गत अवक्षयण (डेप्रिसियेशन) पर जो रियायतें की गई हैं, इन्हीं से प्रोत्साहन पाकर उद्योगपति इस कार्य के लिए रुपया बचायेंगे। देश में उद्योग के विकास के लिए पूँजी सीमित राशि में ही उपलब्ध हो सकेगी। अतः राज्य को पूंजी के निर्गमन (कैपिटल इश्यू) पर नियंत्रण रखना आवश्यक होगा। अब तक इस नियंत्रण का नकारात्मक कार्य ही रहा है। भविष्य में इस नियंत्रण के द्वारा पूंजी संग्रह तथा उसके सदुपयोग को प्रोत्साहन मिलना चाहिये। उद्योग नियंत्रण विधेयक के कारण यह कार्य और भी सरल हो जायगा, क्योंकि उन्हीं प्रमंडलों (कम्पनियों) को पूंजी एकत्रित करने की आज्ञा दी जायगी, जिन्होंने केन्द्रीय बोर्ड से कार्य आरम्भ करने की अनुज्ञा प्राप्त कर ली है।

औद्योगिक अर्थ के उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट है कि पूंजी की कमी देश के औद्योगिक विकास में सबसे बड़ी कठिनाई है। अतः कमीशन ने विदेशी पूँजी का देश में स्वागत करने की स्पष्ट राय दी है; विशेषकर पूँजी के साथ देश में पूँजीगत माल, शैल्पिक ज्ञान और एकस्वकृत (पेटेंटेड) उत्पादन कियाएँ भी उपलब्ध हो सकेंगी। यदि विदेशी पूँजी लाभार्थ (इक्विटी कैपिटल) देश में लग सके तो औद्योगिक विकास की दृष्टि से और भी अच्छा होगा। इस आधार पर विदेशी पूंजीपति पूँजी के अलावा देश में मशीन, कुशल श्रमिक एवं सुयोग्य प्रबंधक भी उपलब्ध कर देंगे। परन्तु विदेशी लोग पूँजी तभी लगाने के लिये तैयार होंगे जब कि उचित लाभ के अतिरिक्त उन्हें उनके देश को लाभ भेजने की सुविधाएँ दी जायँ, उद्योग को राज्य द्वारा हस्तान्तरित करने पर हानि पूर्ण का आश्वासन दिया जाय तथा देशी और विदेशी पूंजी में कोई भेदभाव न किया जाय। अप्रैल १९४९ में तद्विषयक

घोषणा में प्राय: इन सभी बातों का विदेशी पूँजी को आश्वासन दे दिया गया है। परन्तु विदेशी पूँजी को देश में प्रोत्साहन देने के साथ-साथ कमीशन ने यह भी बताया है कि विदेशी पूँजी का किन क्षेत्रों में विनियोग (इन्वेस्टमेंट) किया जाय। नवीन प्रकार के उद्योगधन्धों या वे उद्योग जिनमें विशेष कुशलता की आवश्यकता है या जिन उद्योगों में माँग की अपेक्षा उत्पादन कम है और देशी पूँजी के सफल होने की आशा नहीं है, में ही विदेशी पूँजी का उपयोग किया जाना चाहिये। कमीशन ने देशी और विदेशी पूँजी के संयुक्त उपक्रम (ज्वाइन्ट इन्टरप्राइज़) को प्रोत्साहन देने की सिफारिश की है। परन्तु इस प्रकार के समझौते के लिये राज्य से अनुमति प्राप्त करना आवश्यक कर देना चाहिये। विदेशी वैयक्तिक पूँजी के अलावा, विदेशी सरकारी अथवा अर्ध-सरकारी अर्थ-संस्थाओं जैसे अन्तर्राष्ट्रीय पुनर्निर्माण एवं विकास बैंक और अमरीका के आयात-निर्यात बैंक से भी निश्चित ब्याज दर पर पूँजी लेना उचित होगा।

———

औद्योगिक योजना की समीक्षा

पंचवर्षीय योजना में औद्योगिक विकास की नीति प्रधानतया अप्रैल १९४८ के औद्योगिक नीति वाले प्रस्ताव पर आधारित है। इस प्रस्ताव की पृष्ठभूमि तथा पंचवर्षीय योजना की पृष्ठभूमि में बहुत अंतर है। प्रस्ताव घोषित होने के पूर्व राज्य की राष्ट्रीयकरण की नीति निश्चित नहीं थी। उद्योगपतियों को उसके बारे में अनेक भ्रम तथा संशय थे। विभिन्न व्यक्तियों द्वारा विरोधात्मक मत प्रकट किये जा रहे थे। इस अनिश्चयात्मक वातावरण को शांत करने के लिये ही उक्त प्रस्ताव की घोषणा की गई थी। फिर भी राज्य ने राष्ट्रीयकरण के सम्बन्ध में कोई स्पष्ट या अन्तिम निर्णय इस प्रस्ताव में नहीं किया था। देश के १८ महत्वपूर्ण उद्योगों के राष्ट्रीयकरण के बारे में राज्य ने पुनः विचार करने का आयोजन रखा है और यदि इसी बीच में राज्य आवश्यक समझे तो किसी उद्योग को हस्तान्तरित कर सकता है। प्रस्ताव का मुख्य उद्देश्य औद्योगिक जगत में विश्वास का वातावरण उत्पन्न करना था न कि देश के औद्योगिक विकास की कोई योजना बनाना। इसी कारण राष्ट्रीयकरण के प्रश्न को विचाराधीन रखा गया था। परन्तु पंचवर्षीय योजना की पृष्ठभूमि इससे बिलकुल भिन्न है। योजना का उद्देश्य देश की अर्थ व्यवस्था को पुनः संस्थापित कर भविष्य के विकास के लिये नींव तैयार करना है। योजना का उद्देश्य अधिक उच्च है, उसका कार्यक्षेत्र अधिक व्यापक है और देश का सर्वांगीण आर्थिक विकास उसका कार्यक्रम है। औद्योगिक नीति वाले प्रस्ताव को अक्षरशः स्वीकार कर उसके अनुसार योजना की

औद्योगिक नीति निर्धारित करना उपयुक्त प्रतीत नहीं होता। प्रस्ताव का मसविदा तैयार करते समय उद्योग को संयोजित अर्थ-व्यवस्था (प्लान्ड इकॉनमी) में कार्य करने की कोई कल्पना नहीं थी। यह स्वत: स्पष्ट है कि उद्योगों पर राजकीय नियमन और नियन्त्रण विभिन्न उद्देश्यों से प्रेरित होकर किया जा सकता है—उत्पादन वृद्धि, निर्यात वृद्धि, मजदूरी की दर, पूरा रोजगार इत्यादि। ये सब उद्देश्य एकांगी होते हैं। संयोजित अर्थ-व्यवस्था में उद्योगों का स्थान और कार्य निर्धारित कर उन्हें विशिष्ट सहायता तथा उत्तरदायित्व देना अधिक जटिल एवं महत्वपूर्ण कार्य है। हमारा मत है कि योजनाकारों ने औद्योगिक नीति वाले प्रस्ताव को आधार मान कर औद्योगिक संयोजन के कार्य को अधूरा छोड़ दिया है। प्रस्ताव के अनुसार भी राष्ट्रीयकरण के प्रश्न पर पुन: विचार किया जाना चाहिये था। राष्ट्रीयकरण के प्रति देश का दृष्टिकोण कोई स्थिर एवं अपरिवर्तनशील विचार नहीं है। जन जागृति, आर्थिक परिवर्तन, शासन व्यवस्था के सुधार और वैयक्तिक पूँजी के व्यवहार का राष्ट्र के दृष्टिकोण पर गम्भीर प्रभाव पड़ता है। गत तीन वर्षों में हुए इन परिवर्तनों तथा आगामी पाँच वर्षों में सम्भावित परिवर्तनों को ध्यान में रख कर योजनाकारों को राष्ट्रीयकरण के विषय पर पुनर्विचार करना चाहिये था। प्रश्न उठ सकता है कि राज्य ने प्रस्ताव के द्वारा अपने आपको एक निश्चित नीति से बाँध लिया था और उसमें परिवर्तन करना संभव नहीं था। परन्तु कोई भी मंत्रि-मंडल अथवा उसके द्वारा संचालित राज्य शासन आगामी मंत्रि-मंडल को किसी नीति से बाँध नहीं सकता है। एक ही राजनैतिक दल द्वारा संचालित राज्य शासन की नीति समय और परिस्थिति के साथ बदलती रहती है। क्या राजनैतिक क्षेत्र में ऐसा नित्य नहीं होता है? तो फिर आर्थिक क्षेत्र

में वैयक्तिक पूँजीपति नैतिकता या स्थायित्व के नाम पर किसी राज्य-शासन को एक स्थिर नीति से कैसे बाँध सकते हैं।

औद्योगिक नीति वाले प्रस्ताव को नीति का आधार मानने के कारण योजनाकारों को देश का औद्योगिक विकास अधिकांश में वैयक्तिक पूँजी के हाथों में ही छोड़ना पड़ा है। एक स्थान पर योजना में लिखा है, "राज्य के सीमित साधन होने के कारण वह उद्योगों में विशेष पूँजी नहीं लगा सकेगा। अतः योजना के काल में औद्योगिक उत्पादन की वृद्धि का उत्तरदायित्व बहुत कुछ वैयक्तिक पूँजी पर ही रहेगा और योजना के मुख्य उद्देश्यों एवं नियंत्रणों को मानने के पश्चात उसे अपना कार्य करने की स्वतंत्रता रहेगी।"* इससे स्पष्ट है कि देश का औद्योगिक भविष्य वैयक्तिक पूँजी पर ही निर्भर करेगा। वैयक्तिक पूँजी किसी भी उद्योग के विकास में आगे कदम तभी उठाती है जब कि उसे निकट भविष्य में उस उद्योग से लाभ की आशा रहती है। परन्तु आर्थिक दृष्टि से पिछड़े हुए देश में उद्योगों से थोड़े ही समय में लाभ की आशा करना या कुछ समय के पश्चात् लाभ की ऊँची दर प्राप्त करना, देश के आर्थिक विकास को रोकना है। देश का इतिहास बताता है कि हमारे यहाँ के उद्योगपति अधिकांश में लाभ से ही प्रेरित होकर साहस करते हैं। ऐसे उद्योगपतियों से औद्योगिक विकास की आशा करना वास्तविकता से दूर हटना ही है। कृषि और उद्योग दोनों ही क्षेत्रों में वैयक्तिक पूँजी पर विकास का उत्तरदायित्व रखा गया है। परन्तु इन दोनों क्षेत्रों में अंतर है। कृषि क्षेत्र में राज्य की ओर से योजनाएँ आरंभ की जायँगी और उनको कार्यान्वित करने के लिये साधन उपलब्ध करने की जिम्मेदारी

---

* "पंचवर्षीय योजना," पृष्ठ १५२।

राज्य पर ही होगी। अतः वाह्य परिस्थिति में कुछ भी परिवर्तन हों, इन योजनाओं पर विशेष प्रभाव नहीं पड़ेगा। परन्तु उद्योग के क्षेत्र में यह स्थिति नहीं है। केवल लोक क्षेत्र (पब्लिक सेक्टर) में ही राज्य, उद्योगों के लिये पूँजी, मशीन, कच्चे माल इत्यादि का प्रबंध करेगा। वैयक्तिक क्षेत्र में स्वयं उद्योगपतियों को ही अपने साधनों पर निर्भर रहना होगा। वैयक्तिक उद्योगों के साधन तथा उन साधनों की पूर्ति को प्रभावित करने वाली बातों के बारे में आँकड़े अभी उपलब्ध नहीं हैं। अतः वैयक्तिक उद्योगों की विकास योजनाएँ कहाँ तक व्यावहारिक हैं और वे सफल हो सकेंगी या नहीं, यह कहना बड़ा कठिन है। सबसे पहले पूँजी की आवश्यकता होगी। राज्य के लोकक्षेत्र के लिये पूँजी एकत्र करने के पश्चात् वैयक्तिक क्षेत्र के लिये कितनी पूँजी बच रहेगी इसका अनुमान लगाना संभव नहीं है। वैयक्तिक उद्योगों को पर्याप्त मशीनें, कल-पुर्जे और कच्चे माल मिलने पर भी उनकी योजनाएँ निर्भर करती हैं। एक ओर राज्य उद्योगों में अधिक पूँजी लगाने की स्थिति में नहीं है और उद्योगों के विकास को वैयक्तिक पूँजी के हाथ में छोड़ दिया गया है; दूसरी ओर राज्य लोक क्षेत्र को संचालित करने के लिये बाजार से पूँजी और कच्चे माल को पहले हस्तान्तरित कर लेगा और साथ ही वह वैयक्तिक पूँजी को संयोजित व्यवस्था में संचालित करने के लिये विभिन्न नियंत्रणों और नियमनों का उपयोग करेगा। इस व्यवस्था में वैयक्तिक पूँजी को कितने साधन उपलब्ध होंगे और उसमें औद्योगिक विकास के लिये कितना उत्साह और साहस बाकी रहेगा, यह कहना कठिन है। योजना में औद्योगिक विकास अनेक अनिश्चयात्मक बातों पर छोड़ दिया गया है। यदि राज्य स्पात, कोयला, वायुयान निर्माण की तरह कुछ और बड़े उद्योगों के विकास का उत्तरदायित्व अपने ऊपर ले लेता

तो औद्योगिक विकास इतना अनिश्चित न रहता तथा विकास की गति भी तेज रहती। गत दस वर्षों का इतिहास वैयक्तिक पूँजी की असफलताओं का लेखा है। उसने किस प्रकार जनता की कठिनाइयों से लाभ उठा कर देश को हानि पहुँचाई है, यह भारत के आर्थिक इतिहास का काला पृष्ठ ही है। अतः राष्ट्रीय जीवन के आर्थिक क्षेत्र में यदि जन कल्याण के सिद्धान्त को वास्तव में विधान के अनुसार चरितार्थ करना है तो लोक क्षेत्र (पब्लिक सेक्टर) की परिधि और भी अधिक व्यापक करनी चाहिये।

योजना के अन्तर्गत देश की अर्थ व्यवस्था दो भागों में विभक्त की गई है—लोक क्षेत्र और वैयक्तिक क्षेत्र। देश का शासन संघीय प्रकार का होने के कारण उत्पादन के साधनों का स्वामित्व और उपयोग का अधिकार विकेन्द्रित करना आवश्यक होगा। ऐसी अवस्था में राष्ट्रव्यापी संयोजन नीति में साम्य और समानता तभी आ सकती है जब कि लोक क्षेत्र और वैयक्तिक क्षेत्र में संपूर्ण सम्बद्धता रखी जाय। कुछ थोड़े से उद्योगों को छोड़कर प्रायः सारा औद्योगिक और कृषि क्षेत्र वैयक्तिक पूँजी के अधिकार और संचालन में रहेगा। ऐसे अनेक अवसर आ सकते हैं जब कि केन्द्रीय संयोजक समिति वैयक्तिक पूंजी की नीति को नियंत्रित करने में समर्थ न हो सके। केन्द्रीय समिति वैयक्तिक क्षेत्र पर कितना नियंत्रण रख सकती है, इसी बात पर संयोजन की सफलता निर्भर रहेगी। मिश्रित अर्थ व्यवस्था के अन्तर्गत जिसमें बड़ा क्षेत्र वैयक्तिक पूंजी के अधिकार में छोड़ दिया गया है, योजना तभी सफल हो सकेगी, जब कि दोनों क्षेत्रों की नीति और संचालन में समता और पारस्परिकता बनी रहे। इस प्रकार दोनों क्षेत्र अन्योन्यावलम्बी हैं। देश में साधन कम हैं और दोनों ही क्षेत्रों में उनके लिये माँग है। यदि एक क्षेत्र ने साधन अधिक ले लिये तो दूसरे के लिये कम बच रहेंगे। अनेक बार ऐसी

स्थिति खड़ी हो सकती है, जब कि दोनों क्षेत्र एक दूसरे के पूरक न होकर प्रतिस्पर्धी की तरह आचरण करने लगें। हमारे विचार से योजना में इस प्रकार की स्थिति के लिये कोई प्रबंध नहीं किया गया है, वरन् मिश्रित अर्थ-व्यवस्था की उपादेयता सिद्ध करने के उद्देश्य से योजनाकारों ने कहीं-कहीं दोनों पक्षों की प्रतिस्पर्धा की स्थिति में ही कल्पना की है; जैसे योजना में एक स्थान पर लिखा है कि "The two sectors will not, however, be water-tight compartments, there will be numerous points of contact and interaction between the two. In certain spheres of activity, some units may be run by private enterprise and some by Government. Some units, again, may be worked on the principle of joint participation."

अविकसित अर्थ-व्यवस्था का राज्य द्वारा तेजी से विकास करने की योजना में राष्ट्र के सीमित साधनों का विभिन्न आर्थिक क्रियाओं में समुचित विनियोग बहुत महत्व रखता है। साधनों का विनियोग इस प्रकार किया जाना चाहिये कि जिससे कुछ समय पश्चात् राष्ट्र की अर्थ-व्यवस्था में स्वतः विकसित होने की शक्ति आ जाय। भारत के साधन सीमित हैं, अतः उनका विनियोग राष्ट्र की उत्पादन शक्ति और शैल्पिक कुशलता की नींव मजबूत करने के लिये होना चाहिये, अर्थात् संयोजन के प्रारंभिक काल में उत्पादक वस्तुओं और मूल उद्योगधंधों के विकास पर हमारा अधिक जोर रहना चाहिए। वास्तव में देश के सामने इसके दो मार्ग हैं—प्रथम मार्ग के अनुसार हम सीमित साधनों का उपयोग उपभोग्य वस्तुओं की उत्पादन वृद्धि के लिये करें ताकि बढ़ती हुई जनसंख्या की आवश्यकता की पूर्ति हो सके, दूसरे मार्ग के अनुसार सीमित

सोवियट संयोजन की ओर जब हम दृष्टि डालते हैं तो ऐसा प्रतीत होता है कि हमारे योजनाकारों ने वहाँ के संयोजन की मुख्य बात की अवहेलना ही की है। सोवियट योजनाओं में सबसे अधिक जोर मशीन, कल-पुर्जे, खनिज पदार्थ और बिजली के निर्माण पर ही दिया गया था। दो पंचवर्षीय योजनाओं के द्वारा रूस ने औद्योगिक विकास की नींव इतनी मजबूत और व्यापक बना दी थी कि आगे चलकर उद्योगों का अधिक सरलता से विकास होता चला गया। देश की उत्पादन शक्ति एक बार बढ़ जाने पर उपभोग्य वस्तुएँ निर्माण करने वाले उद्योगों का विकास करना कठिन नहीं होता है। परन्तु कमीशन ने इस दीर्घकालीन दृष्टिकोण को स्वीकार नहीं किया है। वरन् इस समय देश की अर्थ-व्यवस्था में जो संकट उपस्थित है उसी को दूर करने की ओर उसका विशेष ध्यान रहा है। इसके बजाय उसे वर्तमान संकट को कुछ समय के लिये और वहन करने के लिये तैयार रहना चाहिए था, और भविष्य के विकास के लिए पूँजीगत वस्तुओं (कैपिटल गुड्स) के निर्माण के लिये मूल उद्योगों का विकास करना चाहिये था। सिंचाई या लोहा और स्पात इन दोनों में से किस पर अधिक जोर दिया जाय ? स्वभावतः दीर्घकालीन दृष्टि से लोहे और स्पात को पूर्वता देना अधिक उचित होगा, क्योंकि सिंचाई के विकास में सबसे बड़ी बाधा लोहे और स्पात के सामान की कमी है। हो सकता है लोहे और स्पात को पूर्वता देने के कारण कुछ समय के लिए सिंचाई का विकास कुछ धीमी गति से हो, परन्तु एक बार लोहे और स्पात का सामान देश में बनना आरंभ होने पर सिंचाई का विकास काफी तेजी से किया जा सकता है। यदि सारे प्रश्न को हम दीर्घकालीन दृष्टि से देखें तो मालूम होगा कि देश की कृषि का विकास भी निर्माणकारी (कन्स्ट्रक्शनल) वस्तुओं की उपलब्धता पर निर्भर है। कमीशन

ने कृषि और उद्योग के इस महत्वपूर्ण संबंध पर अधिक विचार नहीं किया मालूम होता है। उसने कृषि की समस्याओं को कृषि के दृष्टिकोण से ही सुलझाने की कोशिश की है। इसीलिए कृषि और उद्योग में सामञ्जस्य प्रतीत नहीं होता और औद्योगिक विकास की अवहेलना की गई प्रतीत होती है।

योजना के प्रथम भाग को कार्यान्वित करने के लिए १४६३ करोड़ रुपये में से ११२१ करोड़ रुपये आन्तरिक क्षेत्रों से प्राप्त किए जाएँगे। बाकी के ३७२ करोड़ रुपये विदेशी सहायता के रूप में प्राप्त करने की आशा की गई है। ६६ करोड़ रुपये खाद्यान्न के रूप में पहले ही अमेरिका ने देने का निर्णय किया है और १३ करोड़ रुपये कोलम्बो योजना के अन्तर्गत आस्ट्रेलिया और कनाडा से मिलने का आश्वासन मिला है। २६० करोड़ रुपयों की विदेशों से और सहायता मिलने की उम्मीद है। यदि यह सहायता विदेशों से न मिली तो स्टर्लिङ्ग पावनों का उपयोग किया जायगा। योजना का दूसरा भाग नितांत विदेशी सहायता पर निर्भर करता है। इसके लिए ३०० करोड़ रुपये विदेशी पूंजी की आवश्यकता होगी। इस प्रकार योजना के दोनों भागों को कार्यान्वित करने के लिए ११२१ करोड़ रुपये की देशी पूंजी होगी और ६७२ करोड़ रुपये विदेशी पूंजी के रूप में आने चाहिये। अभी तक केवल ८२ करोड़ रुपये विदेशों से मिलने का आश्वासन मिला है। ५६० करोड़ रुपये अभी विदेशों से और मिलने चाहिये। इन आंकड़ों से यह स्पष्ट है कि योजना का लगभग आधा भाग विदेशी सहायता पर निर्भर करता है। विदेशी सहायता मिलती है या नहीं, यदि इस प्रश्न को छोड़ भी दिया जाय तो स्वभावतः प्रश्न उठता है: क्या विदेशी सहायता लेना देश के हित में होगा? कोई भी राष्ट्र आज के अन्तर्राष्ट्रीय वातावरण में दूसरे राष्ट्र को सहायता किसी निश्चित

उद्देश्य से देता है। उसके साथ कुछ शर्तें लगी रहती हैं जो कर्ज लेने वाले राष्ट्र की राजनैतिक या आर्थिक स्वतन्त्रता के लिए घातक सिद्ध होती हैं। भारत और अन्य औपनिवेशिक देशों का इतिहास इस बात का साक्षी है कि विदेशी पूंजी राष्ट्र की अर्थ व्यवस्था को शक्ति प्रदान करने के बजाय उसे अन्दर से कमजोर ही बनाती है। एक बार विदेशी पूंजी के देश में पैर जम जाने के बाद उसे हटाना या निष्क्रिय करना बड़ा कठिन होता है। द्वितीय महायुद्ध के पश्चात् अमरीकी सहायता का इतिहास भी प्रायः यही सिद्ध करता है। अतः विदेशी सहायता स्वीकार करने के पूर्व हमें उसके सम्भावित राजनैतिक और आर्थिक परिणामों पर विचार कर लेना चाहिये तथा पूरी सतर्कता से काम लेना चाहिये। हमारे विचार से कमीशन ने देश को राजनैतिक स्वतन्त्रता प्राप्त हो जाने के कारण विदेशी पूंजी के उपर्युक्त पक्ष पर इतनी सतर्कता से काम नहीं लिया है। इसीलिए उसने वैयक्तिक आधार पर विदेशी पूंजी का स्वागत किया है तथा देशी और विदेशी पूंजी के गठबन्धन को प्रोत्साहन दिया है। इस प्रकार की विदेशी पूंजी से देश को वे ही खतरे खड़े हो सकते हैं जो किसी समय औपनिवेशिक क्षेत्रों में हुये थे। यदि हमें विदेशी सहायता की जरूरत पड़ती ही है तो उसे वैयक्तिक आधार पर न लेकर विदेशों की अर्थ-संस्थाओं अथवा राजकीय संस्थाओं से निश्चित व्याज की दर पर लेना चाहिये। यद्यपि भारत सरकार को अपनी विदेशी पूंजी सम्बन्धी नीति घोषित किये लगभग तीन वर्ष हो चुके हैं परंतु विदेशी पूंजी अभी कोई विशेष राशि में नहीं आई है। इसका कारण राज्य की नीति नहीं, परंतु विदेशी पूंजी के पिछले इतिहास से उत्पन्न सशंक एवम् सतर्क जनमत है। इस समय भारतीय उद्योगों की सबसे बड़ी आवश्यकता पूंजीगत वस्तुएँ, शैल्पिक श्रम और औद्योगिक कलाविदों की है। कमीशन

ने आशा व्यक्त की है कि यदि वैयक्तिक पूंजी को अवसर दिया गया तो ये सुविधाएँ स्वतः ही प्राप्त हो जाएँगी। परंतु हमारा मत है कि विदेशी पूंजीपति ये सुविधाएँ देकर कभी उस परिस्थिति को समाप्त करना नहीं चाहेंगे जो उनकी देश में आवश्यकता और अस्तित्व बनाये रखने में सहायक है। फिर कमीशन ने यह स्पष्ट लिख दिया है कि भारतीय एवं विदेशी पूंजीपतियों के समझौते में भारतीय श्रमिक ट्रेनिंग, औद्योगिक कला और प्रबन्ध के बारे में कोई निश्चित शर्त नहीं रखी जा सकेगी, इससे स्पष्ट है कि हमें विदेशी पूंजीपतियों की शर्तों के अनुसार ही पूंजी स्वीकार करनी होगी। हम देशी पूंजी की रक्षा के लिए देशी और विदेशी पूंजी में भेदभाव नहीं कर सकेंगे। विदेशी पूंजी पर अर्जित लाभ विदेशों को भेजा जा सकेगा। दूसरे शब्दों में विदेशी पूंजी का लाभ देश के पूंजी निर्माण कार्य में सहायक नहीं होगा। हो सकता है यह लाभ धीरे-धीरे भारतीय उद्योगों में न लगकर देश के व्यापार में लग जाय और देशी व्यापार से प्रतिस्पर्धा करने लगे। योजना में इसे रोकने के लिए कोई प्रतिबन्ध नहीं बताया गया है। योजना की विदेशी पूंजी सम्बन्धी नीति भारत सरकार द्वारा घोषित अप्रैल १९४९ के प्रस्ताव पर आधारित है, जिसकी विशद विवेचना स्वतन्त्र अध्याय में की गई है।

औद्योगीकरण और विदेशी पूँजी

देश के उद्योगपति, राजनीतिक विचारक तथा अर्थशास्त्री अब तक 'विदेशी पूँजी' के शोषण तथा प्रतिस्पर्धा के पक्ष पर ही विचार करते रहे हैं। भारत की राजनैतिक तथा आर्थिक पराधीनता के कारण इस प्रकार की विचारधारा स्वाभाविक भी थी। विदेशी पूँजी के इतिहास से हमारे देश का गत डेढ़ सौ वर्ष का इतिहास बँधा हुआ है। ब्रिटिश साम्राज्यशाही का वास्तव में मुख्य उद्देश्य भारत को केवल राजनैतिक रूप से परतंत्र बनाकर रखने का नहीं था। गत डेढ़ सौ वर्षों में ब्रिटिश शासकों ने भारत को शोषण का क्षेत्र बनाये रखा। प्रारम्भ में लगभग ७० वर्ष तक भारत से कच्चा माल इंग्लैंड के कारखानों के लिये खींचा गया और पक्का माल भारत के बाजारों में लाकर बेचा गया। इस दोहरे शोषण के क्रम में विदेशी पूँजी का पूरा हाथ था और ब्रिटिश सरकार का उसे पूर्ण प्रोत्साहन तथा संरक्षण प्राप्त था। यह क्रम लगभग ७० वर्ष तक चलता रहा। परन्तु इंग्लैंड के बड़े उद्योग-धंधे प्रसार की सीमा तक पहुँच चुके थे। वहाँ अनेक आर्थिक कारणों से औद्योगिक लाभ की दर में कमी आने लगी थी और अंग्रेज पूँजीपति औपनिवेशिक देशों के नये उद्योगधंधों से लाभ उठाने के लिये लालायित थे।* साथ ही इंग्लैंड का जहाजरानी पर दूर-दूर देशों में प्रभुत्व स्थापित हो चुका था। औपनिवेशिक देशों के नागरिकों की माँग भी लगातार जोर पकड़ रही थी कि राष्ट्रीय उद्योग-धंधों का विकास करना अत्यन्त आवश्यक है। अतः विदेशी पूँजी का जो अब तक

* 'इनसाइक्लोपीडिया आफ सोशल साइन्सेज,' भाग ५-६, पृष्ठ ३६८।

केवल आयात-निर्यात व्यापार में लगी हुई थी, रूप बदला। वहाँ तीव्र गति से भारत में ही विदेशी पूँजी के आधार पर नये उद्योग-धंधे आरम्भ किये गये। रेल, कोयले, चाय, जूट इत्यादि के उद्योग में विदेशी पूँजी अतुल मात्रा में लगाई गई। विशेषज्ञों का अनुमान है कि ब्रिटिश शासन में देश में लगभग १००० करोड़ रुपये की विदेशी पूँजी सरकारी तथा अर्ध सरकारी कामों में लगी हुई थी तथा लगभग १००० करोड़ की व्यापारिक कामों और उद्योग-धंधों में लगी हुई थी।* इन उद्योगों के द्वारा करोड़ों रुपया प्रतिवर्ष औद्योगिक लाभ के रूप में ब्रिटेन और अन्य देशों को जाता रहा है। इतना ही नहीं विदेशी पूँजी द्वारा सङ्गठित उद्योगों के कारण वास्तव में राष्ट्रीय उद्योगों के विकास में बाधा ही पड़ी है। अतुल पूँजी, उत्तम संङ्गठन तथा सरकारी संरक्षण के कारण वे सदा ही शक्तिशाली रहे और देशी उद्योग-धंधों से प्रतिस्पर्धा करते रहे। इस सम्बन्ध में आरम्भ से ही भारतीयों का विरोध रहा तथा महामना मालवीय जी ने १९१८ में इन्डस्ट्रियल कमीशन के समक्ष अपने विचार प्रकट किये थे।† १९२५ में फिर विदेशी पूँजी समिति (एक्स्टर्नल कैपिटल कमेटी) के भारतीय सदस्यों ने अपनी सम्मति प्रकट की कि भारतीय उद्योगधंधों का विकास विदेशी पूँजी की अपेक्षा भारतीय पूँजी की सहायता से ही किया जाय।‡ भारत को विदेशी पूँजी के इतने कटु अनुभव हैं कि देश में पूँजी की कमी होते हुये भी सलाहकार योजना बोर्ड (ऐडवायजरी प्लानिंग बोर्ड) ने अपनी रिपोर्ट में विदेशी पूँजी के सम्बन्ध में लिखा था कि "औद्योगीकरण

---

* 'इंडस्ट्रियल फायनेन्स' नेशनल प्लानिंग कमेटी सीरीज, पृष्ठ १५८।

† 'इन्डस्ट्रियल कमीशन की रिपोर्ट' १९१८।

‡ 'एक्स्टर्नल कैपिटल कमेटी की रिपोर्ट' १९२५।

के लिये देश में ही पूँजी प्राप्त हो सकेगी और उद्योगधंधों के संचालन के लिये विदेशी पूँजी की प्रत्यक्ष रूप से आवश्यकता नहीं होगी। निस्संदेह औद्योगिक कलाविदों और पूँजीगत माल की आवश्यकता होगी। परन्तु उपर्युक्त कार्यों के अतिरिक्त विदेशी पूँजी को स्थान नहीं देना चाहिये, क्योंकि विदेशी पूँजी के एक बार जम जाने के बाद उसे उखाड़ना कठिन कार्य हो जाता है।"*

उपर्युक्त ऐतिहासिक कारणों के अतिरिक्त विदेशी पूँजी के विरोध के कुछ सैद्धान्तिक कारण भी हैं। अनेक अवसरों पर तथा अनेक व्यक्तियों द्वारा इस विरोध का प्रदर्शन किया गया है। संक्षेप में वे इस प्रकार हैं :—

(१) किसी भी उद्योग को सरकारी रक्षण देने पर भारत के नागरिकों को बलिदान करना होता है। अन्य देशों के लाभ के लिये भारत यह बलिदान करने को तैयार नहीं है। यदि रक्षित उद्योग में भारतीय पूँजी लगी हो तो उसका लाभ भारत में ही रहेगा, परन्तु विदेशी पूँजी होने पर इस प्रकार के औद्योगीकरण का लाभ विदेशियों को ही होगा।

(२) विदेशी पूँजीपति अधिकतर भारत की राजनैतिक प्रगति में बाधा उपस्थित करते हैं। यदि उन्हें लगातार राष्ट्र के आर्थिक जीवन में ऊपर उठने दिया गया तो राष्ट्रीय स्वतन्त्रता के लिये वे घातक हो सकते हैं।

(३) विदेशी उद्योगपति भारतीयों को कलाकौशल में ट्रेनिंग प्राप्त करने की सुविधा नहीं देते। फलतः औद्योगीकरण से जितनी रोजगार में वृद्धि और ट्रेनिङ्ग की सुविधा होनी चाहिए, वह नहीं होती।

---

* 'एडवायजरी प्लानिंग बोर्ड की रिपोर्ट' १९४७, पृष्ठ १७।

(४) राष्ट्र का आर्थिक विकास तभी सम्भव है जब कि उसके आर्थिक साधनों का औद्योगिक उपयोग देश में ही देश की पूँजी के द्वारा हो और लाभ देश में ही रहे। इस प्रकार के औद्योगीकरण से ही राष्ट्रीय आय में वृद्धि हो सकती है और तभी राष्ट्र के जीवन-स्तर में उन्नति हो सकती है।

(५) विदेशी पूँजी देश में अदृश्य प्रवेश्य (इनविज़िबल इंपोर्ट) के समान है और उसका प्रभाव व्यापार, विनिमय तथा चलार्थ पर पड़ता है। यदि विदेश से पूँजी अधिक मात्रा में उधार ली गई तो उसका देश के चलार्थ, उधार-ग्रहण तथा व्यापार नीति पर अहितकर प्रभाव पड़ेगा।

राष्ट्र की आर्थिक आवश्यकताएँ

गत १५० वर्षों के विदेशी पूँजी के कटु अनुभव के बावजूद भी देश को विदेशी पूँजी की आवश्यकता है। उत्पादन की कमी, बढ़ती हुई जनसंख्या, खाद्यान्न के वितरण में असामाजिक तरीकों के उपयोग के कारण खाद्यसामग्री के लिये हमारी विदेशों पर निर्भरता बढ़ती जाती है। इस धनराशि को विदेशी विनिमय अधिकतर डालर और पौंड में चुकाना होगा। इसके अतिरिक्त अनेक कृषि और औद्योगिक विकास योजनाओं को कार्यान्वित करने के लिये अतुल धनराशि की आवश्यकता होगी। देश को कितनी पूँजी की आवश्यकता होगी इसका अनुमान लगाना कठिन है; क्योंकि पूँजी सम्बन्धी आवश्यकता निश्चित योजनाओं, उनको कार्यान्वित करने की गति, वर्तमान तथा भविष्य में होने वाली देश की आर्थिक क्षमता इत्यादि पर निर्भर करती है। ये सभी बातें अभी अनिश्चित हैं। अतः कोई निश्चित अनुमान नहीं लगाया जा सकता। फिर भी विभिन्न योजनाकारों ने जितनी पूँजी की आवश्यकता का अनुमान लगाया है उसे मोटे रूप में नीचे दिया जाता है—

विभिन्न योजनाओं के पूँजी सम्बन्धी अनुमान
(करोड़ रुपयों में)

	सरकारी योजना (पंचवर्षीय)	बम्बई योजना (पन्द्रह वर्षीय)	गांधीवादी योजना (दस वर्षीय)	राय योजना (दस वर्षीय)	पंचवर्षीय योजना
कृषि	४०५	१,२४०	१,११५	२,९५०	
उद्योग-धंधे	३६	४,४८०	१,३५०	५,६००	
यातायात	५०६	९४०	४१५	१,५००	
शिक्षा	११४	४९०	३९५	१,०४०	
स्वास्थ्य	१११	४५०	३०५	७६०	
मकान	—	२,२००	—	३,१५०	
विविध	१२३	२००	२०	—	
योग	१,२९५	१०,०००	३,७००	१५,०००	

उपर्युक्त योजनाओं के किसी भी अनुमान को मान लिया जाय तो स्पष्ट प्रतीत होता है कि देश के आगामी दस या पन्द्रह वर्षों में बहुत बड़ी मात्रा में पूँजी की आवश्यकता पड़ेगी। क्या यह राशि देश में प्राप्त हो सकती है? क्या विदेशों से उधार लिये बिना हम अपनी आवश्यकता की पूर्ति कर सकते हैं? देश में एक विचार-धारा है जिसके मतानुसार हमें विदेश से सहायता लेने की आवश्यकता नहीं है। हम अपनी पूँजी की आवश्यकता को कुछ अंशों में घटा सकते हैं और कुछ मितव्ययिता से अपना कार्य कर सकते हैं। इस प्रकार के विचारक निम्न युक्तियाँ और सुझाव रखते हैं:—

(१) बाहर से पूँजी उधार लेने के पूर्व हमें देश में उपलब्ध पूँजी का अनुमान लगा लेना चाहिये। दुर्भाग्य से देश में आर्थिक आँकड़े इतने कम और अपूर्ण हैं कि उनके आधार पर औद्योगिक विकास और उसके लिये भविष्य में उपलब्ध होने वाली पूँजी का अनुमान लगाना सम्भव नहीं है। निस्संदेह पोस्ट आफिस सेविंग्स बैंक, बैंक में संचित पूँजी अथवा बीमा कम्पनियों में चुकाये हुये प्रव्याजि (प्रीमियम) से मान हो सकता है, परन्तु वस्तुस्थिति का ज्ञान नहीं हो सकता क्योंकि देश में अतुल असंचित धन (दबा हुआ) है। अनेक राजनैतिक अथवा आर्थिक कारणों और सामाजिक रीति-रिवाजों के कारण यह धन औद्योगिक विकास के लिए प्राप्त नहीं हो सका। देश में यदि अनुकूल आर्थिक और राजनैतिक परिस्थिति उत्पन्न कर दी जाय और आर्थिक विकास की विश्वसनीय योजनाएँ कार्यान्वित की जायँ तो यह असंचित धन उपलब्ध हो सकता है।

(२) उद्योग-धंधों के विकास में तीन कामों के लिये पूँजी की आवश्यकता पड़ेगी—मशीन, कलपुर्जे इत्यादि खरीदने के लिए, कच्चे माल के लिये और तीसरे मजदूरी इत्यादि चुकाने के लिए। विदेशी

पूँजी की सबसे अधिक आवश्यकता मशीन और कलपुर्जों के आयात में पड़ेगी। परन्तु ज्यों-ज्यों हमारे देश में विकास योजनाएँ सफल होती जायँगी, पूँजीगत माल का आयात भी कम होता जायगा, क्योंकि धीरे-धीरे हमारे देश में ही पूँजीगत माल का निर्माण होने लगेगा। साथ ही विदेशों से हमें व्यापार संधियां करके जहाँ तक हो सके निर्यात के बदले में ही मशीनें मँगानी चाहिये। नये राष्ट्रों ने इसी प्रकार की नीति का उपयोग किया है और पारस्परिक व्यापारिक संधिया करके अपनी पूँजीगत माल की आवश्यकता पूरी की है। इस सम्बन्ध में हमें जापान, जर्मनी और रूस का उदाहरण ध्यान में रखना चाहिये। विशेषकर रूस के औद्योगीकरण का एक अत्यन्त आवश्यक पक्ष यह है कि उसकी विदेश से पूँजीगत माल मँगाने की क्षमता अनेक राजनैतिक एवं आर्थिक कारणों से सीमित थी। वह चारों ओर से पूँजीवादी देशों से घिरा हुआ था। अतः व्यापारी पारस्परिकता के आधार पर वह विदेशों से माल बहुत कम मँगा सकता था। इसी प्रकार उधार ग्रहण तो और भी कठिन है। अतः रूस को प्रायः सारी पूँजी देश में ही प्राप्त करनी पड़ी थी।*
जहाँ तक कच्चे माल का प्रश्न है, हमारा देश प्रायः आत्म-निर्भर है। कुछ खनिजों और खनिज तेलों के अतिरिक्त हम अपनी आवश्यकताएँ देश में ही पूरी कर सकते हैं। अतः कच्चे माल के खरीदने के लिए विदेशी पूँजी की आवश्यकता नहीं होगी। मजदूरी चुकाने के लिए तो नाम मात्र की ही विदेशी पूँजी चाहिये। हाँ, प्रारम्भ में शायद कुछ विशेषज्ञ बाहर से बुलाने पड़ें, परन्तु वे भी कुछ ही वर्षों के लिए।

(३) ऐसे अनेक उपाय हैं जिनसे हम देश में उपलब्ध पूँजी की

*मारिस डाब : 'सोवियट इकानामिक डेवलपमेंट सिन्स १६१७', पृष्ठ १२

राशि में वृद्धि कर विदेशी पूँजी के निर्यात को कम कर सकते हैं। हमारे देश में ऐसे अनेक उद्योग-धंधे आरम्भ किये जाते हैं जिनका कोई निश्चित भविष्य नहीं होता, वे अंत में जाकर असफल होते हैं। उनमें लाखों की पूँजी नष्ट हो जाती है। इसी प्रकार अनेक कारखानों में अव्यवस्था के कारण पूँजी नष्ट होती रहती है। इस प्रकार की फिजूलखर्ची के मुख्य कारण ये हैं—(अ) औद्योगिक योजनाओं का अभाव, (आ) प्रबन्ध में अव्यवस्था विशेषकर मैनेजिंग एजेन्सी की पद्धति, (इ) उद्योगों का अवैज्ञानिक स्थानसीमन (लोकेशन) (ई) अलाभ एकक (अनइकानामिक यूनिट), (उ) अधिपूँजीयन (ओवर कैपिटलाइजेशन)। देश के औद्योगिक विकास का आयोजन तथा नियमन वैज्ञानिक रीति से हो तो उपर्युक्त अपव्ययिता दूर की जा सकती है। ऐसी अनेक वस्तुएँ उत्पन्न की जाती हैं जिनकी देश में इतनी माँग भी नहीं है और न उनका निर्यात ही सम्भव है। इनके निर्माण में कच्चा माल और उत्पादन शक्ति व्यर्थ ही नष्ट हो जाती है। प्रबन्ध तथा श्रम-संगठन में भी ऐसे अनेक दोष हैं जिनके कारण बहुत बड़ी मात्रा में या तो प्रति वर्ष पूँजी नष्ट होती रहती है या पूँजी निर्माण की शक्ति पूर्ण रूप से विकसित नहीं हो पाती। इस क्षेत्र में सुधार होने पर केवल पूँजी की अपव्ययिता ही दूर नहीं होगी वरन् पूँजी निर्माण का कार्य भी बढ़ेगा।

(४) पूँजी की वृद्धि के लिए देश के अधिकोषण तथा अन्य आर्थिक संस्थाओं का पुनर्संगठन करना होगा। प्रमंडल अधिनियम (कम्पनी एक्ट) में इस प्रकार के सुधार करने चाहिए जिनसे साधारण जनता का उनमें विश्वास बढ़े और सञ्चित पूँजी अधिकोषों और प्रमण्डलों में लग सके। मैनेजिंग एजेंसी प्रणाली पूँजी वृद्धि और संकलन में बाधक ही सिद्ध हो रही है, अतः इसका अंत कर देना चाहिए। इस प्रणाली के सम्बन्ध में कांग्रेस आर्थिक

श्रोग्रास समिति ने राय दी है कि "मैनेजिंग एजेन्सी पद्धति को जितनी जल्दी हो सके समाप्त कर देना चाहिये।"*

विदेशी पूँजी क्यों आवश्यक है ?

विदेशी पूँजी के विरुद्ध उपर्युक्त युक्तियाँ तथा सुझाव यद्यपि पूँजी की समस्या के हल करने में सहायक हो सकते हैं, परन्तु केवल उनके आधार पर प्रश्न पूर्णतया हल नहीं हो सकता। युद्धकालीन और युद्धोत्तर आर्थिक परिस्थिति से स्पष्ट सिद्ध होता है कि देश में संचय की दर संतोषजनक नहीं है। किसी भी देश में मध्यवर्ग के द्वारा ही सबसे अधिक संचय होता है। परन्तु बढ़ते हुए मूल्य-दर और ऊँचे निर्वाह-व्यय के कारण मध्यवर्ग संचय तो क्या करता, निर्वाह व्यय चलाता रहा है, यही उसके लिए श्रेय की बात है। युद्धकाल में जो कुछ संचय हुआ वह असाधारण आर्थिक स्थिति के कारण ही हो पाया है। वास्तव में साधारण अर्थ-व्यवस्था में उस प्रकार का संचय सम्भव ही नहीं है। कृषक वर्ग ने या तो अपना कर्ज चुकाया या जो कुछ भी वह बचा सका, उसे सोने चाँदी के जेवरों के रूप में परिवर्तित कर दिया है। जहाँ तक धनी वर्ग का संबंध है उसके बारे में अनेक संदिग्ध बातें हैं। जिन्होंने ईमानदारी से कमाया और हिसाब रक्खा, उनके लाभ का बहुत बड़ा अंश आय-कर या व्यवसाय कर के रूप में निकल गया, अतः उनके संचय की दर अधिक नहीं रही। जिन्होंने असामाजिक रीतियों से धन कमाया वे अपने संचित धन को दबाकर बैठे हैं—जिसकी राशि कुछ मास पूर्व डा० पट्टाभि सीतारमैया ने लगभग १०० करोड़ रुपये बताई थी। वह दबाया हुआ धन खुले आम बाजार में नहीं आ सकता। उक्त कारणों से पूँजी बाजार की आज ऐसी स्थिति हो गई

---

*रिपोर्ट आफ दी इकानामिक कमेटी, पृष्ठ २१

है कि सरकारी ऋण पत्र भी अधिक नहीं खरीदे जाते और अनेक प्रान्तीय सरकारें पूँजी जुटाने में अपने को असमर्थ पा रही हैं।

यंत्रों और कलाविदों की आवश्यकता

कुछ समय के लिये यदि यह मान भी लें कि पूँजी की आवश्यकता हमारे देश में ही पूरी हो जायगी तो भी मशीन, कलपुर्जों, कलाविदों और वैज्ञानिकों की आवश्यकता देश में पूरी नहीं हो सकती। हमारे देश में मशीन और कलपुर्जे बनाने के उद्योग नहीं के बराबर हैं। अनेक कारणों से अब तक केवल उपभोग्य पदार्थों से संबंधित उद्योग-धन्धे ही आगे बढ़ गये हैं। बुनियादी उद्योग-धन्धों की अब तक नितान्त अवहेलना की गई है। फलतः भारत मशीन और कलपुर्जों के लिये आज भी और कम से कम आगामी १० वर्षों तक विदेशों पर निर्भर रहेगा। उदाहरण के लिये सिंचाई के साधन, जल-विद्युत उत्पन्न करने की मशीनें, कृत्रिम खाद्य बनाने के यंत्र, ट्रैक्टर, सड़क कूटने के रोलर, यातायात सम्बन्धी इंजिन, मशीनें और कलपुर्जे इत्यादि विदेशों से मँगाने पड़ते हैं। केवल कलपुर्जे और मशीनें मँगाने से हमारी आवश्यकता पूरी नहीं हो जायगी। हमारे यहाँ औद्योगिक और वैज्ञानिक शिक्षा की कमी है। जिसके फलस्वरूप कुशल प्रबंधकों एवं श्रमिकों की बहुत कमी है, विशेषज्ञ तो वास्तव में नाम मात्र को ही है। लगभग दो वर्ष पूर्व भारत सरकार ने श्री फोर्ड, बेकन, डेविस, इन अमरीकी विशेषज्ञों द्वारा औद्योगिक शिक्षा का पर्यवेक्षण कराया था। इन विशेषज्ञों के निम्न निष्कर्ष थे—*

(१) भारत में इंजीनियरों और कुशल औद्योगिक प्रबंधकों की नितान्त कमी है। उद्योगधंधों के प्रारम्भिक आयोजन में

---

*'रिपोर्ट आफ दी ऐडवायज़री प्लानिंग बोर्ड' १९४७, पृष्ठ १८

लेकर साधारण क्रियाओं तक के लिये कुशल कलाविदों की आवश्यकता है।

(२) कुशल श्रमिकों के अभाव के कारण श्रमिकों की कार्य-क्षमता और काम करने की गति अन्य देशों की तुलना में बहुत ही कम है।

(३) यंत्र, बिजली से संबंधित तथा अन्य प्रकार के कलपुर्जों की कमी और कलाकौशल सम्बन्धी शिक्षण संस्थाओं की कमी देश के औद्योगीकरण के मार्ग में सबसे बड़ी कठिनाई है।

समस्त राष्ट्र के पुनर्निर्माण के लिये कितनी बड़ी संख्या में विशेषज्ञों और कुशल कारीगरों तथा श्रमिकों की आवश्यकता होगी, यह रूस के उदाहरण से स्पष्ट होगा—

औद्योगिक संगठन के प्रमुख	४,५०,०००
राजनैतिक उद्योगों के प्रबंधक	३,५०,०००
राजकीय खेतों के प्रबंधक	५,८२,०००
अन्य	३,६९,०००
इंजीनियर	३,२०,०००
कलाविद्	९,०६,०००
अध्यापक और अन्वेषक	१०,४९,०००
अर्थशास्त्री, मुनीम इत्यादि	२४,३९,०००
अन्य	३१,१६,०००
रूस के शिक्षितों की संख्या	६५,९१,०००
रूस की कुल जनसंख्या	१७,००,००,०००

ऊपर की तालिका से कलाविदों और कुशल श्रमिकों की आवश्यकता स्पष्ट है। तीन प्रकार के व्यक्तियों की आवश्यकता होगी—विशेषज्ञ, प्रबंधक और कुशल श्रमिक। प्रत्येक अवस्था

में हमें पहले दो प्रकार के व्यक्तियों के लिये विदेशों पर निर्भर रहना होगा। तीसरे प्रकार के व्यक्तियों के लिये अंश में विदेशों से सहायता लेनी होगी। केवल कुशल श्रमिकों को ट्रेनिंग देने के लिये ही हमें कितने प्रयत्नों की आवश्यकता है, यह टेकनिकल सलाहकार समिति की रिपोर्ट से स्पष्ट है। रिपोर्ट के अनुसार प्रारम्भ में प्रतिवर्ष १६,००० कुशल श्रमिकों की आवश्यकता होगी जिनके लिये लगभग ३२,००० स्थानों (सीट्स) का प्रबंध करना होगा।*

खाद्य सामग्री के लिए विदेशों पर निर्भरता, विकास योजनाओं के लिये पूंजी की आवश्यकता तथा मशीन, कलपुर्जों और कलाविदों की कमी के कारण भारत को विदेशी पूंजी की सहायता लेनी ही होगी। यह आवश्यकता आर्थिक इतिहास की दृष्टि से कोई अस्वाभाविक नहीं है। भारत, फ्रांस, इटली तथा दक्षिणी अमेरिका के औद्योगिक विकास खासकर रेल यातायात के विकास के इतिहास से स्पष्ट है कि किसी भी देश को जब पूंजीगत माल की जरूरत होती है तो उसे इस प्रकार के माल भेजने वाले देश से उधार ग्रहण करना होता है। इस प्रकार की पूंजी तथा पूंजीगत माल एक दूसरे से संबंधित हैं। "Thus the two types of exports of Capital goods and of Capital funds were closely interrelated even in those cases where the sale of goods for export did not precede the granting of loans or was not anticipated at the time......movements of Capital funds and of Capital goods were interdependent."

---

* 'रिपोर्ट आफ दी एडवाइजरी कमेटी ऑन टेकनिकल ट्रेनिंग १९४४-४५, पृष्ठ ८

इस उदाहरण से स्पष्ट है कि यदि हमें औद्योगीकरण करना है तो हमें विदेशों से मशीन और कलपुर्जे मँगाने होंगे और यदि मशीन, कलपुर्जे मँगाने हैं तो विदेशी पूँजी का सहारा लेना होगा। इस सम्बन्ध में भारत सरकार की नवीन नीति की चर्चा करने से पहले गांधी जी के इस सम्बन्ध में मूल विचारों की विवेचना करना उचित होगा—

(१) अन्य अर्थशास्त्रियों और इतिहासकारों के समान गांधी जी का विश्वास था कि ब्रिटिश व्यापार और उद्योग इस देश के शोपण पर आधारित हैं। उन्हें विशेष अधिकार और आर्थिक श्रेष्ठता राजनैतिक बल पर प्राप्त थी।

(२) इस असमान स्थिति को समाप्त करना आवश्यक है। जब तक इसे खतम नहीं किया जाता तब तक समान अधिकार की बात न्यायोचित नहीं कही जा सकती।

(३) अंग्रेजी पूँजी जब भारतीय हितों का शोषण कर दे और दोनों समान स्थिति में आ जायँ तभी दोनों देशों में स्वाभाविक आर्थिक सम्बन्ध और सद्भावना स्थापित हो सकती है।

(४) स्वतंत्र भारत में ब्रिटिश पूँजी के लिए काफी क्षेत्र है और यदि दोनों देशों में सद्भावना बनी रही तो ब्रिटिश व्यापार को तरजीह देना अलाभदायक न होगा।

गांधी जी के सतत् प्रयत्नों से देश आज स्वतंत्र है। स्वतंत्र भारत में उन्होंने जो विदेशी पूँजी की कल्पना की थी, वह किस हद तक सिद्ध हो रही है? भारत सरकार की नीति का मूल सिद्धांत से कहाँ तक सामञ्जस्य है? देश की तथा संसार की बदली हुई दशा में आज किस हद तक हम गांधी जी के उक्त सिद्धांतों का पालन कर सकते हैं? इन सब बातों की चर्चा नीचे की पंक्तियों में की जाती है।

भारत सरकार की नवीन नीति *

विदेशी पूँजी संबंधी सरकार की नीति की घोषणा करते समय पं० नेहरू ने बताया कि अभी तक देश की राजनैतिक परतंत्रता के कारण हम विदेशी पूँजी के नियंत्रण और नियमन पर जोर देते आ रहे हैं। परंतु अब देश की परिस्थिति बदल चुकी है। अतः विदेशी पूँजी का देश के हित में लाभकारी उपयोग ही अब नियमन का उद्देश्य होना चाहिये। पण्डित नेहरू ने स्वीकार किया कि विदेशी पूँजी की केवल इसलिए आवश्यकता नहीं है कि देश में पूंजी संचय कम हो रहा है, परंतु इसके अतिरिक्त हमें विदेशों से मशीन, कलपुर्जे और औद्योगिक कलाविदों की भी आवश्यकता है, जो केवल विदेशी पूँजी के साथ ही प्राप्त हो सकते हैं। अतः सरकार ने विश्वास दिलाया है कि ब्रिटिश अथवा अन्य विदेशी पूंजी को किसी भी प्रकार की हानि नहीं पहुँचाई जायगी। सरकारी नीति को हम मुख्य चार भागों में बाँट सकते हैं —

(१) वर्तमान उद्योग-धंधों में लगी हुई विदेशी पूंजी पर सरकार कोई भी ऐसी शर्त नहीं लगाएगी जो भारतीय उद्योगों पर लागू न हो, अर्थात् वर्तमान विदेशी पूंजी और भारतीय पूंजी में सरकार कोई भेदभाव नहीं करेगी। भविष्य में भी सरकार ऐसी नीति निर्धारित करेगी जिससे पारस्परिक लाभ के आधार पर विदेशी पूँजी भारत में आ सके। परंतु इसके साथ-साथ प्रत्येक प्रकार की पूँजी—भारतीय अथवा विदेशी—को सरकार की औद्योगिक नीति स्वीकार करनी होगी और उसी के अनुसार चलना होगा।

(२) विदेशी पूँजी देश में लाभ कमा सकेगी और साधारणतः विदेश को लाभ भेजने पर भी कोई रोक नहीं लगायी जायगी।

* ६ अप्रैल १९४९ को पं० नेहरू द्वारा घोषित।

परंतु विदेशी विनिमय की कठिनाइयों को ध्यान में रखकर ही इस प्रकार की सुविधा दी जा सकेगी। यदि किसी विदेशी पूँजी के उद्योग को सरकार हस्तान्तरित करेगी तो सरकार उचित हानि पूरण देगी।

(३) साधारणतः उद्योग-धंधों के स्वामित्व और प्रबन्ध में भारतीय नागरिकों का मुख्य हाथ होगा और साधारण अवस्था में सरकार विशेषाधिकार के अंतर्गत राष्ट्र-हित की दृष्टि से किसी भी उद्योग को हस्तान्तरित अथवा नियंत्रित कर सकती है। यह स्पष्ट है कि इस संबंध में कोई कड़ा अथवा निश्चित नियम नहीं बनाया जा सकता। यदि एक निश्चित काल के लिए विदेशी पूँजी का किसी उद्योग विशेष पर राष्ट्र-हित में स्वामित्व आवश्यक समझा गया तो सरकार इसके लिए आज्ञा प्रदान करेगी। प्रत्येक मामले पर राष्ट्र-हित की दृष्टि से ही विचार किया जायेगा। यदि आवश्यक योग्यता के भारतीय श्रमिक न मिलें तो विदेशी कारखाने विदेशियों को नौकरी दे सकते हैं; परंतु साथ ही साथ ऐसे कार्यों के लिए इन कारखानों को कुशल भारतीय श्रमिक और कलाविद तैयार करने होंगे।

(४) भारतीय उद्योग-धंधों को प्रोत्साहन देना, भारत सरकार की निश्चित नीति है। परन्तु आज भी और भविष्य में भी देश के औद्योगीकरण में ब्रिटिश पूँजी के लिये बहुत क्षेत्र रहेगा।

विदेशी पूँजी के सम्बन्ध में जो अनेक संदिग्ध तथा भ्रमात्मक बातें फैली हुई थीं वे भारत सरकार के उपर्युक्त वक्तव्य से अवश्य दूर हो जायँगी। अमरीकी और इंगलैंड के समाचारपत्रों में वहाँ के उद्योगपतियों की इस सम्बन्ध में प्रतिक्रियाएँ प्रकाशित हुई हैं। उनसे इस बात की पुष्टि होती है कि उक्त वक्तव्य से विदेशी पूँजी को आश्वासन मिला है। विदेशी और भारतीय पूँजी में किसी प्रकार का भेदभाव नहीं किया जायगा, यह आश्वासन बहुत

महत्वपूर्ण है, क्योंकि अब तक औद्योगिक क्षेत्रों की यह जोरदार माँग रही है कि भारतीय पूँजी के विकास के लिये विदेशी पूँजी पर कड़ी शर्तें लगाना आवश्यक है। उक्त वक्तव्य ने सदा के लिये इस माँग को समाप्त कर दिया है। दूसरा भय विदेशी पूँजी के राष्ट्रीय-करण का बना हुआ था। सरकार ने स्पष्ट घोषित किया है कि इस सम्बन्ध में उनकी ६ अप्रैल १९४८ को घोषित औद्योगिक नीति का ही अनुसरण किया जायगा। इस नीति के अनुसार राजकीय उद्योगों और वैयक्तिक पूँजी का क्षेत्र निर्धारित हो चुका है। अतः अब विदेशी पूँजीपति स्पष्टतया सोच सकते हैं कि उन्हें औद्योगिक क्षेत्र में पूँजी लगानी चाहिये। यदि किसी उद्योग का राष्ट्रीयकरण हुआ भी, तो उसके स्वामी को चाहे वह भारतीय हो चाहे विदेशी, उचित हानि पूरण मिलेगा। इन मूल बातों के अतिरिक्त सरकार का यह आश्वासन कि वर्तमान उद्योग-धंधों में लगी विदेशी पूँजी के कार्य में किसी प्रकार का हस्तक्षेप न किया जायगा और वह साधारणतः अन्य भारतीय उद्योगों की तरह लाभ कमाकर विदेशों को भेज सकेगी, बहुत महत्वपूर्ण है। इससे देश में लगी विदेशी पूँजी में विश्वास और स्थायित्व उत्पन्न होगा और वह उत्पादन कार्य उत्साह से करेगी। नवीन नीति के अनुसार यह आवश्यक नहीं कि प्रत्येक अवस्था में प्रत्येक उद्योग-धंधे के स्वामित्व में भारतीयों का मुख्य अधिकार हो। किसी अवस्था विशेष में भारत सरकार अपने निर्णय के अनुसार किसी भी विदेशी पूँजीपति को निश्चित काल के लिये किसी उद्योग विशेष पर पूर्ण स्वामित्व की आज्ञा प्रदान कर सकेगी। यह भी आवश्यक न होगा कि प्रत्येक स्थान पर भारतीयों को ही रखा जाय। आवश्यकता पड़ने पर विदेशी कलाविदों और विशेषज्ञों को भी रखा जा सकेगा। इस तरह भेदभाव और राष्ट्रीयकरण का भय वक्तव्य से बहुत कुछ दूर हो जायगा और

साथ ही कार्य-संचालन तथा लाभ कमाने और विदेशों को लाभ भेजने का सरकार पूरा अवसर देगी। वक्तव्य का विदेशों में कैसा मनोवैज्ञानिक प्रभाव पड़ा है, उससे किस हद तक विदेशी पूँजीपति यहाँ पूँजी लगाने को तैयार होते हैं और उन देशों की सरकारें तथा आर्थिक संस्थायें क्या रूप धारण करती हैं, यह धीरे-धीरे ही जाना जा सकेगा।

किस देश से सहायता मिल सकती है ?

भारत सरकार की नीति का विश्लेपण करने के पश्चात् स्वभावतः प्रश्न उठता है कि पूँजी किस देश से ली जाय ? ऐसा कौन-सा देश है जो हमारी आवश्यकता के अनुसार हमें पूँजी दे सकेगा ? किन शर्तों पर और किन साधनों से पूँजी प्राप्त की जाय ? विभिन्न राष्ट्रों की आर्थिक स्थिति को देखते हुए स्वभावतः हमारी दृष्टि इंग्लैंड, अमेरिका तथा रूस की ओर जाती है। पहले हम देखते हैं कि क्या रूस से हमें पूँजी के रूप में सहायता मिल सकती है ? यह सिद्ध करने की आवश्यकता नहीं कि गत द्वितीय महायुद्ध में फासिस्ट राष्ट्रों को छोड़ सबसे अधिक क्षति रूस की ही हुई है। राष्ट्र के पुनर्निर्माण-कार्य में उसकी अधिकांश आर्थिक शक्ति लगी हुई है। उसके लिये अतिरिक्त पूँजी का निर्यात करना संभव नहीं है। साथ ही उसकी अर्थ-व्यवस्था इतनी आयोजित है कि उसमें विदेशी विनियोग (फारेन इन्वेस्टमेंट) का कोई विशेष स्थान नहीं हो सकता। जब तक किसी देश के आदर्श, सिद्धान्त और अर्थ व्यवस्था सोवियत-सिद्धान्तों के अनुकूल न हों, रूस अपनी पूँजी लगाने को तैयार नहीं हो सकता। रूस के साधन भी सीमित हैं। उसके पास पूँजीगत माल अतिरिक्त मात्रा में नहीं है। जो कुछ है भी, वह उसे पड़ोसी राष्ट्रों के आर्थिक-विकास में लगाना अधिक

उपयोगी समझेगा; विशेषकर जब उसके पड़ोसी राष्ट्रों में मार्शल योजना कार्यान्वित की जा रही है, इस योजना के प्रभाव को मिटाने के लिये पड़ोसी राष्ट्रों को आर्थिक सहायता देना अत्यन्त आवश्यक है। उक्त कारणों से स्पष्ट है हमें रूस की सहायता नहीं मिल सकती है।

दूसरा देश इंग्लैंड है जिससे हम कुछ पूँजी की आशा रख सकते हैं। परन्तु इंगलैंड भी आज उस परिस्थिति में नहीं है, जिसमें वह युद्ध से पूर्व था। युद्ध के कारण इंग्लैंड की आर्थिक परिस्थिति में बड़ा परिवर्तन हो गया है। युद्ध में उसे जो क्षति हुई है उसे सब से पहले पूरा करना है। युद्ध-ध्वस्त उद्योग-धंधों के पुनर्संगठन और पुनर्संस्थापन में ही उसकी काफी शक्ति लग रही है। फिर युद्धकाल में उस पर जो अमरीकी तथा अन्य औपनिवेशिक देशों का ऋण हो गया था, उसे चुकाना है। उसके निर्यात का बहुत बड़ा भाग कर्ज चुकाने में ही चला जायगा। युद्धोत्तरकाल में इंग्लैंड की विदेशी पूँजी से आय भी कम हो गई है। युद्ध के कारण विदेशों में लगी उसकी पूँजी बहुत बड़ी मात्रा में बेची जा सकती है, अतः विदेशों से औद्योगिक लाभ भी अब उसे कम मिलता है। साथ ही उसे जहाजरानी, बीमा इत्यादि के द्वारा जो अदृश्य लाभ होता था वह भी बहुत कम हो गया है। निकट भविष्य में उसे अपनी युद्धपूर्व की औद्योगिक परिस्थिति प्राप्त करना कठिन होगा। युद्धकाल में इंग्लैंड की उत्पादन शक्ति का भी बहुत ह्रास हुआ है। अनेक उद्योग-धंधे सैनिक सामग्री के उत्पादन में लगा दिये गये थे। युद्ध के कारण उत्पादन के साधन नष्ट हो गये तथा युद्ध में व्यस्त रहने के कारण इंग्लैंड की आंतरिक प्रगति और वैज्ञानिक उन्नति रुक गई थी। अतः उसका प्रति मनुष्य उत्पादन अमेरिका जैसा नहीं है। उपर्युक्त कारणों से इंग्लैंड न तो बड़ी मात्रा में

हमारे देश में पूँजी ही लगा सकता है और न बड़ी मात्रा में मशीन तथा कलपुर्जे ही भेज सकता है। अधिक से अधिक आज जो अंग्रेजी पूँजी से उद्योग-धंधे चल रहे हैं, वे चालू रह सकते हैं या उनका कुछ प्रसार हो सकता है। जो हमारा पौण्ड पावना इंग्लैंड पर है वही हमें उचित समय में और आवश्यकतानुसार मिलता रहे, यही इंग्लैंड से आशा रखी जा सकती है।

उल्लिखित परिस्थिति में अमेरिका ही ऐसा देश है जो अपने औद्योगिक और वैज्ञानिक विकास के कारण हमारी आर्थिक आवश्यकताएँ पूर्ण कर सकता है। हमारे देश की इस समय तीन आवश्यकताएँ हैं मशीन और कलपुर्जे, औद्योगिक कौशल और खाद्य सामग्री की। अमरीका में बुनियादी उद्योग-धंधे बहुत विकसित अवस्था में हैं। मशीन और कलपुर्जों का उस देश में अतिरिक्त उत्पादन होता है। केवल यही ऐसा देश है जहाँ से हमें पूँजीगत माल मिल सकता है। इसी तरह यहाँ औद्योगिक कलाविदों और विशेषज्ञों का बाहुल्य है। खाद्य सामग्री का भी वहाँ अतिरिक्त उत्पादन होता है। वह स्वयं निर्यात कर सकता है, और अपने वैदेशिक व्यापार के द्वारा अन्य देशों से भी हमें खाद्य सामग्री दिलवा सकता है। अमरीकी पूँजी किस प्रकार प्राप्त की जाय ? वैयक्तिक पूँजी ली जाय या वहाँ की अधिकोषण संस्थाओं से या अमरीकी सरकार से ऋण लिया जाय ? यह जटिल प्रश्न है, क्योंकि ऋण का आर्थिक भार, वापिस चुकाने के उपाय, राजनैतिक तथा सैनिक प्रभाव आदि बहुत कुछ प्रश्न इसी पहलू पर निर्भर करते हैं।

अन्तर्राष्ट्रीय बैंक से ऋण

वैयक्तिक अमरीकी पूँजी और अमरीकी सरकार से ऋण की चर्चा करने से पूर्व अन्तर्राष्ट्रीय बैंक से ऋण लेने के सुझाव का

विश्लेषण करना आवश्यक है। अन्तर्राष्ट्रीय बैंक संयुक्तराष्ट्र सभा द्वारा संगठित एक अन्तर्राष्ट्रीय अधिकोष (बैंक) है। लगभग ५२ राष्ट्र उसके सदस्य हैं। उसकी पूँजी सदस्य राष्ट्रों ने चंदा देकर एकत्र की है। परन्तु उसकी विनियोग योग्य पूँजी (लोनेबल कैपिटल) अधिकतर अमरीकी बाजारों में बांड के द्वारा ही इक्ट्ठी की गई है।

किसी भी विकास-योजना की आर्थिक एवं सामाजिक उपयुक्तता का निर्णय करते समय बैंक का विशेषज्ञ-मंडल उस योजना के निम्न पहलुओं पर ध्यान देता है:—

(१) योजना के सम्बन्ध में पूरी यांत्रिक और वैज्ञानिक तैयारी।

(२) योजना की उपयोगिता न केवल सम्बन्धित क्षेत्र में वरन् राष्ट्र की समस्त आर्थिक व्यवस्था में।

(३) योजना को जल्दी कार्यान्वित करने की आवश्यकता।

(४) बैंक के ऋण के फलस्वरूप विदेशी वैयक्तिक पूँजी के उस देश में आने की सम्भावना।

(५) ऋण को वापिस चुकाने का आश्वासन।

भारत ने जिन विकास-योजना के लिए ऋण मांगे हैं, वे लगभग सभी बैंक शर्तों के अनुसार हैं। अन्तर्राष्ट्रीय बैंक से ऋण मुख्यतः बंजर भूमि को कृषि योग्य बनाने, बिजली के कुएँ बनाने, बिजली पैदा करने, रेल के एंजिन और जहाज खरीदने और मछली के उद्योग को बढ़ाने के लिये ऋण मांगा गया है।* हमारे विचार से केवल मछली के उद्योग को छोड़कर उपर्युक्त सभी योजनायें अत्यन्त आवश्यक हैं और बैंक की सहायता के योग्य हैं। जब तक

---

* बैंक द्वारा भारत में भेजे हुये मंडल के अध्यक्ष का [illegible] में भाषण, 'कामर्स, २६ फरवरी १९४८ 'कामर्स' ५ जून १९४९।

देश की कृषि उन्नति नहीं होती और यातायात साधन सुव्यवस्थित नहीं होते, देश का आर्थिक विकास नहीं हो सकता और न औद्योगीकरण ही सम्भव है। अतः बैंक को ऋण देने में कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए। राष्ट्रीय हितों की दृष्टि से तथा भविष्य में होने वाली राजनैतिक एवं आर्थिक जटिलताओं की दृष्टि से भी अन्तर्राष्ट्रीय बैंक जैसी संस्थाओं से ऋण लेना उपयुक्त होगा। वह किसी देश विशेष या व्यक्ति समूह विशेष की संस्था नहीं है। अतः कोई देश या व्यक्ति-समूह मनमानी शर्तें, राजनैतिक और आर्थिक दबाव नहीं डाल सकता। अंतर्राष्ट्रीय राजनैतिक उलझने भी कम ही खड़ी होगीं। दूसरे वैयक्तिक पूँजी दीर्घकालीन योजनाओं से दूर भागती है, क्योंकि इसका मन्तव्य तात्कालिक लाभ कमाना होता है। वह नई योजनाओं में अंतर्हित जोखिम नहीं उठा सकती। राष्ट्र निर्माण की योजनाओं में बड़ी मात्रा में पूँजी की आवश्यकता होती है जो सार्वजनिक संस्थाओं से ही प्राप्त हो सकती है। वैयक्तिक पूँजी राष्ट्र-निर्माण-योजनाओं में शासन के हस्तक्षेप के डर के कारण भी आने से डरती है। अतः जहाँ हो सके देश को अन्तर्राष्ट्रीय बैंक से ही ऋण लेना चाहिये। परन्तु कुछ ऐसे कारण हैं जिनकी वजह से बैंक द्वारा हमारी सारी पूँजी की आवश्यकता पूरी नहीं हो सकेगी। उसके संगठन के कुछ ऐसे अधिनियम हैं, जिनके कारण उसकी ऋण देने की क्षमता सीमित है। वह अपनी प्रार्थित पूँजी (सब्स-क्राइब्ड कैपिटल) की केवल २०% राशि ही ऋण के रूप में दे सकता है। अर्थात् १५३४ करोड़ डालर तक ही वह सारे राष्ट्रों को ऋण दे सकता है। इसकी सदस्यता पूरी होने पर भी यह राशि ९·१ अरब डालर से अधिक न होगी। राशि देखने में बड़ी मालूम होती है, परन्तु संसार के विभिन्न देशों के पुनर्निर्माण और पुनः संस्थापन कार्य को ध्यान में रखते हुये यह राशि बहुत बड़ी नहीं

है। विशेषज्ञों का अनुमान है कि अंतर्राष्ट्रीय-बैंक भारत को बहुत अधिक सहायता नहीं दे सकेगा। संक्रांति-काल में ही बैंक के साधन बहुत अधिक मात्रा में उपयोग में आ जायँगे। और भविष्य में बैंक की ऋण देने की क्षमता सदस्य राष्ट्रों की ऋण चुकाने की तत्परता और सावधानी पर ही निर्भर करेगी।*

ऋण की कुछ शर्तें

अंतर्राष्ट्रीय बैंक के प्रतिनिधि मंडल के नेता श्री ए० एस० जी० होर ने अपने बम्बई के भाषण में कहा था कि अंतर्राष्ट्रीय बैंक किसी राष्ट्र विशेष की आर्थिक योजनाओं के लिये तभी ऋण देता है जबकि उस देश की योजनायें अंतर्राष्ट्रीय आर्थिक विकास की दृष्टि से वांछनीय एवं आवश्यक हों। इस शर्त में एक प्रकार की औद्योगिक औपनिवेशिकता प्रतीत होती है। पूर्वी देशों में ऐसी अनेक योजनाएँ हो सकती हैं जिनमें पश्चिम के औद्योगिक देशों तथा अमरीकी अर्थ-व्यवस्था में परिवर्तन हो। और बहुत सम्भव है कि इस परिवर्तन के फलस्वरूप उन देशों के आर्थिक प्रभुत्व में कमी आये। प्रश्न उठता है कि क्या ऐसी अवस्था में अंतर्राष्ट्रीय बैंक भारत को या अन्य किसी भी पूर्वी देश को ऋण देने के लिये तैयार होगा? क्योंकि अतर्राष्ट्रीय बैंक के प्रबन्ध में छोटे-छोटे देशों का प्रतिनिधित्व होते हुये भी निश्चित रूप से उसकी नीति और संचालन पर डालर का अंकुश सदा ही बना रहेगा। ऋण की दर के संबंध में भी मतभेद हो सकता है। बैंक ४½% की दर पर भारत को ऋण दे सकेगा। पिछड़े हुए देशों की अर्थ-व्यवस्था, उत्पादन-शक्ति

* श्री० सी० डब्ल्यू० नर्वारिया. 'फायनान्स आफ इंडियन प्लानिंग', पृष्ठ ५५।

और जीवन स्तर को ध्यान में रखते हुये बैंक की उक्त दर निःसंदेह ऊँची है। इसमें कोई शक नहीं कि बैंकों को जिस दर पर दूसरों से रुपया उधार मिलता है, वह उस दर से कम ऋण नहीं दे सकता परन्तु यह सिद्धान्त तो केवल साधारण बैंकों के साथ लागू हो सकता है। जिस बैंक का उद्देश्य युद्ध-ध्वस्त अर्थ-व्यवस्था का पुनर्निर्माण करना तथा पिछड़े हुये देशों का औद्योगिक-विकास करना है, उसकी ब्याज की दर की शर्त इतनी कड़ी नहीं होनी चाहिये। भारत ने युद्ध काल में करोड़ों रुपयों की हानि तो उठाई ही पर साथ ही बहुत बड़ी मात्रा में उसका जन और धन भी नष्ट हुआ था। युद्ध के आर्थिक प्रभावों के कारण उसकी ऊँची ब्याज देने की क्षमता कम हो गई है। उसे अपनी युद्धकालीन क्षति की पूर्ति करनी है। अतः अन्तर्राष्ट्रीय बैंक का यह कर्त्तव्य है कि वह पूर्व के इस महान देश के पुनर्निर्माण में कड़ी शर्तें न लगाये।

बैंक के सीमित साधनों और अन्य अधिनियम सम्बन्धी अड़चनों के कारण हमें बैंक से कुछ अधिक आशा नहीं रखनी चाहिये। वह कुछ विशिष्ट योजनाओं के लिये अर्थ दे सकेगा; परन्तु राष्ट्रीय पुनर्निर्माण की संपूर्ण योजनाओं के लिये उस पर निर्भर रहना उचित न होगा। यदि हमें अपनी विकास योजनाओं को कार्यान्वित करना है तो कभी न कभी और किसी न किसी मात्रा में अमरीकी वैयक्तिक पूँजी तथा अन्य अमरीकी अधिकोषण संस्थाओं का हमें सहारा लेना ही होगा। परन्तु इस आवश्यकता पर जोर देने का हमारा यह बिल्कुल अर्थ नहीं है कि अमरीकी पूँजी को खुला क्षेत्र दे दिया जाय या उसे उसके साधनों और संगठन के बल पर भारतीय उद्योगों पर प्रभुत्व जमाने दिया जाय। वैयक्तिक पूँजी के इस पक्ष पर विचार करने से पूर्व हम अमरीकी अधिकोषण संस्थाओं पर विचार करते हैं।

अमरीकी बैंकों से ऋण

अमरीका की अधिकोषण संस्थाएँ अत्यंत सङ्गठित हैं और उनके आर्थिक साधन भी बहुत हैं। अंतर्राष्ट्रीय अर्थ-व्यवस्था और पुनः संस्थापन के कार्य में उनका शक्तिशाली स्थान है। राष्ट्रीय सलाहकार परिषद् (दी नेशनल एडवायजरी कौंसिल), आयात-निर्यात बैंक, जहाजरानी परिषद् (मैरीटाइम कमीशन) और युद्ध परिसम्पत् सङ्गठन (वार एसेट्स अडमिनिस्ट्रेशन) मुख्य संस्थाएँ हैं। आयात-निर्यात बैंक की पूँजी लगभग ३.५ अरब डालर है। अमरीकी शासन इस बैंक को और सहायता भी देगा, क्योंकि अब अमरीका यह पूरी तरह से समझ गया है कि उसकी अर्थ-व्यवस्था में तभी स्थायी प्रसार हो सकता है जब कि पिछड़े हुये राष्ट्रों की अर्थ-व्यवस्था का निरंतर विकास होता रहे। पिछड़े हुये राष्ट्रों का औद्योगीकरण अमरीकी पूँजी के लिए सबसे अच्छा क्षेत्र है और इस क्षेत्र में निरंतर पूँजी लगी रहने से ही अमरीका के व्यापार और राष्ट्रीय आय में स्थायित्व बना रह सकता है। इस तथ्य को केवल अमरीका के बैंक ही नहीं वहां के उद्योगपति और पूँजीपति भी भलीभाँति स्वीकार करते हैं और उनकी विनियोग (इन्वेस्टमेंट) नीति पर भी इसका पूरा प्रभाव है। इसीलिए प्रेसीडेन्ट ट्रूमन पिछड़े हुये राष्ट्रों के औद्योगिक विकास के लिए वैयक्तिक अमरीकी पूँजी को पूरा प्रोत्साहन दे रहे हैं। अन्तर्राष्ट्रीय बैंक भी, जिस पर अमरीका का पूरा प्रभाव है, ऋण देते समय शर्त लगाता है कि ऋण के फलस्वरूप विदेश से वैयक्तिक पूँजी का आना सम्भव होना चाहिये। वैयक्तिक पूँजी के पक्ष में निम्न युक्तियां दी जाती हैं :—

(१) वैयक्तिक पूँजी के साथ यंत्रों और कलाविदों की सहायता स्वतः ही मिल जाती है जो कि अंतर्राष्ट्रीय बैंक अथवा अन्य राष्ट्र के शासन से ऋण लेने पर नहीं मिल सकती।

(२) वैयक्तिक पूँजी से योजनाओं में निरंतर कार्य चलता रहता है। सरकारी ऋण से योजनाएँ केवल एक स्थिति विशेष तक ही कार्यान्वित की जा सकती हैं।

(३) यदि विदेशी ऋण के आधार पर प्रारंभ की हुई योजना असफल हो तो दोनों राष्ट्रों में निराशा, ऋण और मतभेद ही शेष रहता है।

उपर्युक्त दलीलें ऊपरी तौर से ठीक मालूम हैं परन्तु विश्लेषण करने पर उनका खोखलापन मालूम होता है। प्रथम युक्ति को लीजिये। विदेशी पूँजी के साथ मशीन और कल-पुरजे मिल जाते हैं, परंतु उन पर अधिकार विदेशियों का रहता है। उनकी सदा यह कोशिश रहती है कि ऋणी राष्ट्र के नागरिक औद्योगिक कला से सदा अनभिज्ञ बने रहें तथा उन्हें सदा मूल बातों से दूर ही रखा जाता है। यह हमारे देश का गत २०० वर्षों का कटु अनुभव है और इसके विरुद्ध समय-समय पर भारतीय नेताओं ने आवाज भी उठाई है। विदेशी पूँजी के साथ मशीनें आती अवश्य हैं, परन्तु ऋणी राष्ट्र में मशीनें बनाने के काम को विदेशी पूँजी कभी प्रोत्साहन नहीं देती। फलतः मशीन, कल पुरजों और औद्योगिक विशेषज्ञों के लिए देश की अन्य देशों पर निर्भरता बढ़ती ही जाती है। इसलिये पहली युक्ति चाहे औद्योगीकरण के आरम्भ काल में कुछ सत्य हो, परन्तु दीर्घकालीन दृष्टि से वह हानि कर रही है। दूसरी युक्ति है कि वैयक्तिक पूंजी के अंतर्गत कार्य निरंतर रूप से चलता रहता है। परंतु यह भी सत्य है कि यह निरंतरता तभी तक विद्यमान रहती है जब तक वैयक्तिक पूंजी को एक निश्चित दर से लाभ होता रहता है। वास्तव में वैयक्तिक पूंजी ऐसे औद्योगिक क्षेत्र से सदा ही बचकर रहती है जहाँ जोखिम अधिक हो, लाभ की निकट भविष्य में आशा न हो और जहाँ राष्ट्र के हस्तक्षेप का डर

हो। ऐसी अवस्था में वैयक्तिक पूंजी चाहे कुछ उद्योगों में लग भले ही जाय, वह डर कर कदम रखती है और इस डरपोक नीति के कारण देश के प्राकृतिक साधनों का राष्ट्र कल्याण की दृष्टि से कभी पूरा विकास नहीं होने पाता। तीसरी दलील है कि योजना के सफल न होने से निराशा फैलती है और राष्ट्रों के बीच मतभेद फैलता है। इस दलील में भी अधिक सत्य नहीं है। यदि वैयक्तिक पूँजी किसी उद्योग में असफल हो जाती है तो उसका अधिक व्यापक और दीर्घकालीन प्रभाव होता है। सरकार अपने सङ्गठन और आर्थिक साधनों के कारण इस प्रकार की असफलता को सहन करने की क्षमता रखती है। वरन् शासन के अंतर्गत प्रारम्भ की गई योजना के असफल होने की कम संभावना रहती है।

वैयक्तिक पूँजी के पक्ष में दी गई दलीलों की परीक्षा करने के पश्चात् हमारा यह निश्चित मत है कि विदेशी पूँजी अन्तर्राष्ट्रीय बैंक से ली जाय। उससे यदि आवश्यकता पूरी न हो तो भारत सरकार अमरीकी-अर्थ-क्षेत्रों में बांड द्वारा ऋण ले और अंत में अमेरिका की अधिकोषण संस्थाओं से ऋण लें।

———

सूती कपड़े का उद्योग

[Cotton Textile Industry]

भारत में सूती कपड़े की सबसे पहली मिल सन १८१८ में कलकत्ता में खोली गई, परन्तु कलकत्ता इसके लिये अनुकूल स्थान नहीं था। उसके आस-पास कपास नहीं होता था और वह सूती कपड़े बनाने का ऐतिहासिक महत्व नहीं रखता था, इसलिये वहाँ मिल सफल नहीं हुई और बंद कर दी गई। १८५४ में सब से पहली मिल बंबई में खुली जहाँ अनुकूल जलवायु और स्थान था। बंबई भौगोलिक दृष्टि से एवं सूत के आयात-निर्यात की दृष्टि से बहुत ही अनुकूल स्थान था। १९वीं शताब्दी के अंतिम काल में यातायात का काफी विकास हो चुका था। बंबई समुद्र के किनारे होने पर भी देश के आन्तरिक स्थानों से व्यापार कर सकता था। साथ ही उसकी जलवायु सूत की कताई के लिये अनुकूल सिद्ध हुई। बंबई बंदरगाह होने के कारण बड़ी राशि में चीन को सूत भेजता था। एशियाई देशों के सूती व्यापार का ९०% भाग भारत के हाथ में था और सारे निर्यात के ९० प्रतिशत भाग का बंबई से निर्यात होता था। साथ ही बंबई में औद्योगिक अनुकूलता होने के कारण सूती उद्योग को बड़ी सरलता से और कम व्याज की दर पर पूँजी भी मिल गई। किसी भी उद्योग के प्रारंभिक काल में पूँजी की उपलब्धता बहुत महत्व रखती है। विदेशी व्यापार का बन्दरगाह होने के कारण, बंबई में ऐसे बड़े-बड़े व्यापारी थे जो उ[illegible]ोग में पँजी लगा सकते थे।

उद्योग का विकेन्द्रीकरण

१८७७ तक सूती कपड़े का उद्योग अधिकांश में बंबई या उसके [illegible]स-पास केन्द्रित था, परन्तु बाद में सूती कपड़े के उद्योग में [illegible]र्तन शुरू हुआ। सूती कपड़े की मिलें देश के आंतरिक और [illegible] भागों में भी खोली गई। इस परिवर्तन के फलस्वरूप सूती [illegible] के उद्योग में अनेक दीर्घकालिक परिवर्तन हुये। देश के [illegible] भाग में उद्योग के लिये कुछ विशेष अनुकूल परिस्थितियाँ [illegible]पत थीं। कपास की खेती अधिकांश में बंबई के आस-पास ही [illegible] वरन् देश के आंतरिक भाग में भी होती थी। अतः वहाँ की [illegible] को सस्ती दर पर, थोड़े यातायात-व्यय पर और सरलता से [illegible]मिल जाती थी। साथ ही आंतरिक भाग वाली मिलों के आस[illegible] बाजार भी निकट था। अनेक केन्द्रीय स्थानों से देश के विभि[illegible] प्रान्तों में कपड़ा भेजना सरल था, व्यापार में देख-रेख अधिक[illegible] जा सकती थी और बाजार पर सरलता से कब्जा किया जा सक[illegible] था। इस उद्योग की दूसरी आवश्यकता श्रम भी होती है। इस[illegible] से भी अन्य भाग अधिक अनुकूल थे। परन्तु उन भागों में [illegible] श्रमिक नहीं मिलते थे। फिर भी यह कठिनाई थोड़े समय तक ही रही। और फिर उद्योग की सम्पूर्ण श्रम शक्ति में कुशल श्रम[illegible] अनुपात अपेक्षाकृत अकुशल श्रम से कम होता है, इसलिये [illegible] अकुशल श्रम सस्ते दर पर मिल जाय तो, महँगे कुशल श्रम के कार[illegible] जो हानि होती है, उसकी आसानी से क्षतिपूर्ति हो सकती है। [illegible] समय तक यातायात साधनों का काफी विकास हो चुका था, अत: उत्तरी मिलें भी सूत का निर्यात कर सकती थीं। धीरे-धीरे सारे [illegible] में मजदूर वर्ग में जागृति हो रही थी और इस जागृति के कारण ब्रिटिश प्रान्तों में अनेक प्रकार के श्रम-विधान लागू किये गये। फलतः कपड़े के उत्पादन-व्यय में वृद्धि हुई, पर

मिल-मालिकों को असुविधा होती थी। वे मजदूरी के घंटे या मजदूरी का काम, एवं काम करने की परिस्थितियों में मनमानी नहीं कर सकते थे। अतः बहुत से मिल-मालिकों ने नई मिलें ब्रिटिश प्रान्तों में न खोल कर देशी रियासतों में खोलीं, जहाँ श्रम-विधान लागू नहीं थे। इस प्रवृत्ति के कारण भी यह उद्योग बंबई से धीरे-धीरे हट कर उत्तरी क्षेत्रों में जमना आरंभ हो गया।

सूत की मिलों का ह्रास

१६०५ तक भारतीय सूती कपड़े का उद्योग बहुत उन्नतशील अवस्था में था और बंबई सब से प्रमुख केन्द्र था। भारत से चीन को बहुत बड़ी मात्रा में सूत भेजा जाता था, इसके अतिरिक्त बर्मा, मलाया और अरब देशों को भी सूत और सूती कपड़ा भेजा जाता था। परन्तु १६०५ के बाद भारत के सूती-व्यापार में बड़ी तेजी से ह्रास हुआ। सबसे अधिक सूत का निर्यात चीन को होता था। लेकिन विदेशी उद्योगपतियों की प्रेरणा से चीन में सूत की मिलें खुल गईं। अतः चीन को भारतीय सूत की आवश्यकता कम होती गई। दूसरे, स्वयं भारत में कपड़ा बनने की मिलें खुल गई और यहीं सूत की माँग बढ़ गई। तीसरे, रूस और जापान में युद्ध होने के कारण प्रशांत महासागर में यातायात की कठिनाई उपस्थित हो गई। अतः जापान को चीन के बाजार पर कब्जा करने का अवसर मिला। चौथे, भारत में चाँदी का सिक्का स्वतंत्र रूप से बनना बंद हो गया, इसलिये भारत और चीन की विदेशी विनिमय दर में परिवर्तन हुये और सूत के व्यापार में कठिनाई आने लगी। धीरे-धीरे बंबई का सूत का व्यापार प्रायः बंद हो गया।

प्रथम महायुद्ध का प्रभाव

प्रथम महायुद्ध तक उद्योग में दो बातें स्पष्ट रूप से दिखाई

देती हैं : (१) देश में तैयार किये गये सूत की खपत देश में ही हो रही थी और सूत का व्यापार समाप्त हो गया था और (२) सूती उद्योग का प्रसार किसी एक प्रान्त में नहीं वरन् देशव्यापी हो गया था। प्रथम महायुद्ध के समय देश यद्यपि उद्योग में आत्म-निर्भर नहीं था फिर भी भारतीय बाजार में भारतीय सूती कपड़े की माँग बढ़ रही थी। युद्ध से इस उद्योग को बहुत प्रोत्साहन मिला. कपड़े की माँग बहुत बढ़ी, सरकार की सेना के लिये अधिक कपड़े की आवश्यकता भारत में ही नहीं वरन अन्य पूर्वी देशों में भी हुई। आयात का माल बंद हो गया था, अतः देश में भी कपड़े की माग बढ़ी। फलस्वरूप बाजार के भाव बढ़े, जिससे लाभ की दर भी बढ़ी जिससे उद्योगपतियों को उद्योग में विकास करने का अवसर मिला। इसके अतिरिक्त भारत सरकार भी उद्योग को प्रोत्साहन दे रही थी। प्रथम महायुद्ध समाप्त होते-होते उद्योग उन्नत अवस्था पर पहुँच गया। युद्ध के बाद ही स्वदेशी आन्दोलन से इस उद्योग को अधिक प्रोत्साहन मिला। इस समय उद्योगपतियों और नेताओं में काफी मतैक्य था कि स्वदेशी उद्योग का विकास किया जाय। लेकिन उद्योग की यह उन्नत अवस्था अधिक दिनों तक नहीं रही। १९२९ की संसार-व्यापी मंदी के कारण उद्योग में ह्रास आरंभ हुआ और यह मंदी भारतीय सूती उद्योग में एक नवीन अध्याय प्रारंभ करती है।

१९२९ की मंदी के प्रभाव

(१) प्रथम महायुद्ध के कारण युद्धकाल में और युद्धोत्तरकाल में प्रायः सभी वस्तुओं के मूल्य बहुत अधिक बढ़ गये थे। परन्तु यह मूल्य वृद्धि कोई स्थायी नहीं थी। युद्धोत्तर काल में कुछ ऐसी आर्थिक कठिनाइयाँ उत्पन्न हुई जिनके फलस्वरूप संसार-व्यापी मंदी की स्थिति उत्पन्न हो गई। प्रायः सारे संसार में कृषि पदार्थ और

कच्चे माल के भाव गिर गये। जनता की क्रयशक्ति में ह्रास हुआ, इसलिये उपभोग्य पदार्थों के अभियाचन में भी ह्रास हुआ। समाज की उत्पादक क्रियायें कम हो गईं। बेकारी बढ़ी और निर्वाह व्यय में कमी होने पर भी आम जनता को बहुत अधिक कष्ट उठाने पड़े। यह स्थिति संसार-व्यापी थी और भारत पर भी इसका बहुत गहरा प्रभाव पड़ा। विशेषकर कृषि पदार्थों के मूल्य बहुत अधिक कम हो गये। ग्रामीण जनता की क्रय-शक्ति बहुत घट गई जिसके कारण सूती कपड़े के उद्योग पर भी प्रभाव पड़ा। यद्यपि रुई का भाव कुछ कम हुआ, परन्तु कपड़े की माँग घटती चली गई। कपड़े का मूल्य गिरने के कारण सूती मिल की लाभ-दर में भी बहुत अधिक कमी हुई। १९२९ की मंदी भारत के सूती उद्योग के इतिहास में सब से अधिक बुरा समय माना जाता है। इस समय में सारा उद्योग अस्त-व्यस्त हो गया अनेक मिलें बंद हो गईं, मजदूरों में बेकारी बढ़ी और सूती औद्योगिक केन्द्रों में हड़तालें हुईं।

(२) औद्योगिक माल का भाव भी बहुत कुछ मंदी के समय में उतरा और चढ़ा। रुई के उद्योग में केवल कपास की ही आवश्यकता नहीं होती। इसके अतिरिक्त बड़ी मशीनें, भारी रासायनिक पदार्थ, रंग इत्यादि की भी आवश्यकता होती है। इस प्रकार के औद्योगिक माल प्रायः विदेशों से ही भारत को प्राप्त होते थे। इनके मूल्य में भी बहुत भारी परिवर्तन हुए। उद्योग के लिये सारी आर्थिक स्थिति इतनी अस्थिर थी कि उद्योगपतियों के लिये उत्पादन का पूर्वानुमान लगाना बहुत कठिन हो गया था। युद्धकाल के प्रसार की अनेक योजनाएँ बनाई गईं। उनके अनुमान युद्धकालीन मूल्यों पर आधारित थे। परन्तु मंदी के समय में लाभ की दर इतनी नीचे गिर गई थी कि प्रसार की सारी योजनाएँ प्रायः स्थगित कर दी गईं।

(२) प्रथम महायुद्ध के पूर्व ही भारत का सूती व्यापार प्रायः समाप्त हो चुका था। जापान चीन को बहुत बड़ी मात्रा में सूत का निर्यात करता था। युद्धोत्तर काल में जापान की स्थिति और भी अधिक अच्छी होती चली गई। इस बीच में जापान में जो व्यापारिक और यांत्रिक प्रगति हुई उसके कारण जापान का प्रायः समस्त पूर्वी देशों में प्रभुत्व स्थापित हो गया। आरम्भ में जापान की इस बढ़ती हुई औद्योगिक शक्ति की ओर (भारतीय) कपड़े बनाने की मिल के मालिकों ने ध्यान नहीं दिया। परन्तु १६२३ और २४ से ही इस प्रतिस्पर्धा का भारत के कपड़े के बाजार पर प्रभाव दिखाने लगा था। १६२३-१६३३ तक जापान ने प्रायः यहां के उद्योग-धंधों को परास्त कर दिया था। जापान की इस श्रेष्ठता के कुछ कारण निम्न प्रकार से हैं :—

(१) सूती उद्योग के लिये एक विशेष प्रकार की जलवायु की आवश्यकता होती है। केवल बंबई में ही इस प्रकार की जलवायु हमारे देश में उपलब्ध है, परन्तु जापान का प्रत्येक क्षेत्र इस प्रकार की अनुकूल जलवायु रखता है। जलवायु की इस अनुकूलता के कारण वहाँ सूत अच्छे प्रकार का ही नहीं तैयार किया जा सकता था परन्तु कम मूल्य पर भी सूत का उद्योग चल सकता था। भारत में जो कुछ अनुकूल जलवायु निर्माण करने के प्रयत्न किये गये वे अधिक सफल नहीं हुये और उनका व्यय भी बहुत अधिक हुआ, जिसका कपड़े के उत्पादन-व्यय पर प्रभाव पड़ा।

(२) जापान की कपड़ों की मिलों में स्त्री और बालक मजदूरों की संख्या बहुत अधिक है। वहां स्त्री और पुरुष का अनुपात मिलों में ३:१ है जबकि हमारे देश की मिलों में पुरुष और स्त्री का अनुपात ४ ८ :१ है। जापान ही संसार के औद्योगिक देशों में ऐसा देश है, जहां कि स्त्री-मजदूरों की संख्या इतनी अधिक है। स्त्रियों

की वेतन दर पुरुषों की वेतन दर से कम होती है, परन्तु जहाँ तक औद्योगिक कुशलता का सम्बन्ध है, दोनों में किसी प्रकार का अंतर नहीं होता। वास्तव में जापान की स्त्री मजदूर की औद्योगिक कुशलता हमारे देश के पुरुष-मजदूर की कुशलता से तिगुनी या चौगुनी है। बालक-मजदूरों की संख्या जापानी उद्योगों में बहुत अधिक है। इनकी वेतन दर प्रायः आधी होती है। कुशल और सस्ते श्रमिक मिल जाने के कारण जापान की सूती कपड़ों की मिलों में उत्पादन-व्यय भारत की मीलों की अपेक्षा बहुत कम था। इसलिये बाहर से रुई मँगाने पर भी और विदेशों को कपड़े का निर्यात करने पर भी विदेशी बाजार में कपड़ा अधिक सस्ता पड़ता था।

(३) जापान में रुई का उत्पादन नाममात्र को भी नहीं होता है। आरंभ से ही जापान रुई भारत, अमेरिका या चीन से खरीदता रहा है। इस निर्भरता के कारण जापानी कपड़े के उत्पादन पर कोई बुरा प्रभाव नहीं पड़ा। परन्तु इसके विपरीत कपड़े के उद्योगपतियों ने रुई खरीदने का एक ऐसा संसार-व्यापी सङ्गठन बना रखा था, जिसके केन्द्र प्रायः सभी रुई उत्पादन करने वाले देशों में थे और जिसके पास पर्याप्त पूँजी थी, उत्तम संगठन था और राज्य की सहायता प्राप्त थी। रुई के खरीदने की व्यवस्था के द्वारा जापान की कपड़े की मिलें अपने पूर्वानुमान के अनुसार पहिले से ही एक निश्चित दर पर रुई खरीद लेती थीं। भविष्य में मूल्य परिवर्तन होने के फलस्वरूप वे इस प्रकार की हानि से अपने आपको बचा लेती थीं। इसलिये जापानी मिलों के उत्पादन-व्यय में स्थिरता थी और इसके कारण विक्रय का संङ्गठन भी अधिक सुदृढ़ था।

(४) जापान के कपड़े के उद्योग के पीछे केवल उद्योगपतियों की ही शक्ति कार्य नहीं करती थी वरन् राज्य की ओर से भी इस उद्योग को अनेक प्रकार से आर्थिक सहायता मिलती थी। उदाहरण के लिये

विदेशों में जापानी माल का प्रचार करना, विदेशों से कच्चे माल के नमूने मँगाना, विदेशी उपभोक्ताओं से उनकी आवश्यकताओं की जानकारी प्राप्त करना, विदेशी सरकारों से जापानी निर्यात के व्यापार के सम्बन्ध में संधि करना, उद्योगपतियों को आर्थिक सहायता देना इत्यादि।

(५) प्रथम महायुद्ध के पश्चात् जापान की नौ सेना का काफी विकास हो चुका था। जापान का आयात और निर्यात प्रायः जापानी जहाजी कंपनियों द्वारा ही होता था। इन कंपनियों और जापानी उद्योगपतियों में एक दूसरे को सहायता देने का समझौता हो चुका था। इसलिये जापान के माल पर यातायात का व्यय बहुत कम लगता था और इसी कारण जापान जैसे दूर स्थित देश से आने पर भी हमारे देश में माल सस्ता पड़ता था।

(६) १९२३ और २४ के बाद जापान ने अपने सिक्के येन (yen) का मूल्यपात किया और अपनी सुविधा के अनुसार उसके विदेशी विनिमय की दर में परिवर्तन किये। इस मौद्रिक परिवर्तन के फलस्वरूप जापान में कच्चा माल सस्ता पड़ता था और जापानी पक्का माल बाहरी बाजारों में सस्ता पड़ता था।

(७) जापान ने यद्यपि औद्योगिक प्रगति काफी कर ली थी, परंतु औद्योगिक श्रमिकों के संबन्ध में उसकी नीति बहुत प्रतिक्रियावादी रही। अंतर्राष्ट्रीय-श्रम-संगठन (International Labour Organisation = I. L. O.) ने जितने भी विधान मजदूरों के कल्याण के लिये बनाये उन सब की जापान ने सदा अवहेलना की। काम करने के घंटे, काम करने की जगह, मिलों का निर्माण, मिलों का निरीक्षण, स्त्री और बालक सम्बन्धी विधान, शिफ्ट (Shift) और श्रमकल्याण की योजनाएं जापान में बहुत ही नगण्य थीं। एक प्रकार से जापानी माल श्रमिक के शोषण के कारण ही

सस्ता पड़ता था। भारत अंतर्राष्ट्रीय श्रम संगठन का सदस्य था। अनेक अंतर्राष्ट्रीय श्रम विधान भारत में लागू हो चुके थे, इसलिये भारत की मिलों में श्रम व्यय की दर (Rate of labour cost) जापान की मिलों की अपेक्षा अधिक होती थी।

(८) भारत की कपड़ों की मिलों का संगठन भी कोई संतोषजनक नहीं था। अव्यवस्था के कारण भारत की मिलों में प्रतिस्पर्धा का मुकाबला करने की शक्ति नहीं थी। बहुत सी मिलों में विशेषकर बंबई और अहमदाबाद की मिलों में आवश्यकता से अधिक पूँजी लगी हुई थी। इस पूँजी के कारण मिलों की उत्पादन क्षमता जापानी मिलों की अपेक्षा कम थी। अतिरिक्त पूँजी केवल बेकार नहीं रहती थी, परंतु उसके कारण अन्य उत्पादक साधनों का संतुलन भी बिगड़ चुका था। इस बेकार पूँजी पर उद्योगपतियों को व्यर्थ में व्याज देना होता था। जिसका भार अंत में उत्पादन व्यय पर पड़ता था। दूसरे, अनेक उद्योग धंधों में ऐसे अंतर्संबंध (Inter-locking) स्थापित हो गये थे कि एक उद्योग का प्रबन्ध-बोर्ड, दूसरे उद्योग का प्रबन्ध-बोर्ड भी था। इसके कारण यदि एक मिल में हानि होती तो उसका प्रभाव दूसरी मिल पर भी पड़ता था। इसी प्रकार अनेक उद्योगों के कोष भी अंतर्संबंधित थे, सारी औद्योगिक स्थिति जटिल बन गई थी कि उसके विकास और सुव्यवस्था में अनेक बाधाएँ उत्पन्न होने लगीं थीं।

मंदी का सबसे अधिक प्रभाव बम्बई की सूती कपड़ों की मीलों पर पड़ा। प्रथम महायुद्ध के समय बम्बई के कपड़ा-उद्योग को काफी हानि हो चुकी थी। १९०५ के पूर्व जो बम्बई के सूत के व्यापार में एकाधिकारिता थी वह प्रायः समाप्त हो चुकी थी। धीरे-धीरे जापान चीन के बाजारों में अपना सूत बेचना प्रारम्भ कर रहा था और चीन में भी सूत के कुछ कारखाने खुल चुके थे। इन कारणों

से भारत और चीन का सूत व्यापार प्रायः समाप्त हो चुका था। प्रथम महायुद्ध में इस व्यापार को और भी अधिक धक्का पहुँचा। युद्धकाल में यातायात की कठिनाइयों के कारण दोनों देशों के व्यापार में अवरोध उत्पन्न हो गया। इसके फलस्वरूप भारत से सूत का निर्यात बन्द हो गया था। इस प्रकार स्थिति में १९२९ की मंदी का प्रभाव स्वाभाविक रूप से बम्बई के उद्योग पर सबसे खराब पड़ा। इसके कुछ आंतरिक कारण भी थे। उदाहरण के लिये बम्बई के कपड़ा-उद्योग के उद्योगपतियों ने अपने उद्योग की अवहेलना आरंभ करनी शुरू कर दी थी, जैसे—बम्बई की मीलों के कमीशन एजेन्ट उत्तरी भारत के बाजारों में अधिक रुचि नहीं लेते थे। बम्बई की मीलें उत्तरी भारत के उपभोक्ताओं की आवश्यकता के अनुसार उत्पादन नहीं करती थीं। बम्बई के व्यापारियों ने भी पड़ोस के देशों में व्यापार की अवहेलना की।

उपर्युक्त आन्तरिक दोषों के अतिरिक्त बम्बई की मीलों के साथ कुछ विशेष कठिनाइयाँ भी थीं। बम्बई की मीलों को दूर-दूर के क्षेत्रों से कच्चा माल मँगाना पड़ता था। इसके कारण यातायात का खर्च बढ़ जाता था। इसी प्रकार बंबई में जलविद्युत शक्ति का खर्च अधिक था। मजदूर लोग अधिकांश में बाहर से बुलाये जाते थे, इसलिए उनको मजदूरी की ऊँची दर, रहने के मकान और अन्य सुविधायें देनी होती थीं। जो कुछ माल बंबई में बनता था, उसको उत्तरी भारत के बाजारों में बेचने के लिये, बंबई की मीलों को रेल का खर्च उठाना पड़ता था, इसलिये वहाँ जाकर यह माल अधिक महँगा पड़ता था। बंबई के उद्योगों पर स्थानीय कर भी बहुत अधिक थे। इसके अतिरिक्त प्रान्तीय सरकार के द्वारा श्रम कानून भी अधिक कड़ाई से लागू किये जाते थे, जब कि उत्तरी भारत विशेषकर देशी रियासतों में, या तो कानून थे ही नहीं, अथवा

सस्ता पड़ता था। भारत अंतर्राष्ट्रीय श्रम संगठन का सदस्य था। अनेक अंतर्राष्ट्रीय श्रम विधान भारत में लागू हो चुके थे, इसलिये भारत की मिलों में श्रम व्यय की दर (Rate of labour cost) जापान की मिलों की अपेक्षा अधिक होती थी।

(८) भारत की कपड़ों की मिलों का संगठन भी कोई संतोषजनक नहीं था। अव्यवस्था के कारण भारत की मिलों में प्रतिस्पर्धा का मुकाबला करने की शक्ति नहीं थी। बहुत सी मिलों में विशेषकर बंबई और अहमदाबाद की मिलों में आवश्यकता से अधिक पूँजी लगी हुई थी। इस पूँजी के कारण मिलों की उत्पादन क्षमता जापानी मिलों की अपेक्षा कम थी। अतिरिक्त पूँजी केवल बेकार नहीं रहती थी, परंतु उसके कारण अन्य उत्पादक साधनों का संतुलन भी बिगड़ चुका था। इस बेकार पूँजी पर उद्योगपतियों को व्यर्थ में ब्याज देना होता था। जिसका भार अंत में उत्पादन व्यय पर पड़ता था। दूसरे, अनेक उद्योग धंधों में ऐसे अंतर्संबंध (Interlocking) स्थापित हो गये थे कि एक उद्योग का प्रबन्ध-बोर्ड, दूसरे उद्योग का प्रबन्ध-बोर्ड भी था। इसके कारण यदि एक मिल में हानि होती तो उसका प्रभाव दूसरी मिल पर भी पड़ता था। इसी प्रकार अनेक उद्योगों के कोष भी अंर्तसंबंधित थे, सारी औद्योगिक स्थिति जटिल बन गई थी कि उसके विकास और सुव्यवस्था में अनेक बाधाएँ उत्पन्न होने लगीं थीं।

मंदी का सबसे अधिक प्रभाव बम्बई की सूती कपड़ों की मीलों पर पड़ा। प्रथम महायुद्ध के समय बम्बई के कपड़ा-उद्योग को काफी हानि हो चुकी थी। १९०५ के पूर्व जो बम्बई के सूत के व्यापार में एकाधिकारिता थी वह प्रायः समाप्त हो चुकी थी। धीरे-धीरे जापान चीन के बाजारों में अपना सूत बेचना प्रारम्भ कर रहा था और चीन में भी सूत के कुछ कारखाने खुल चुके थे। इन कारणों

से भारत और चीन का सूत व्यापार प्रायः समाप्त हो चुका था। प्रथम महायुद्ध में इस व्यापार को और भी अधिक धक्का पहुँचा। युद्धकाल में यातायात की कठिनाइयों के कारण दोनों देशों के व्यापार में अवरोध उत्पन्न हो गया। इसके फलस्वरूप भारत से सूत का निर्यात बन्द हो गया था। इस प्रकार स्थिति में १९२९ की मंदी का प्रभाव स्वाभाविक रूप से बम्बई के उद्योग पर सबसे खराब पड़ा। इसके कुछ आंतरिक कारण भी थे। उदाहरण के लिये बम्बई के कपड़ा-उद्योग के उद्योगपतियों ने अपने उद्योग की अवहेलना आरंभ करनी शुरू कर दी थी, जैसे—बम्बई की मीलों के कमीशन एजेन्ट उत्तरी भारत के बाजारों में अधिक रुचि नहीं लेते थे। बम्बई की मीलें उत्तरी भारत के उपभोक्ताओं की आवश्यकता के अनुसार उत्पादन नहीं करती थीं। बम्बई के व्यापारियों ने भी पड़ोस के देशों में व्यापार की अवहेलना की।

उपर्युक्त आन्तरिक दोषों के अतिरिक्त बम्बई की मीलों के साथ कुछ विशेष कठिनाइयाँ भी थीं। बम्बई की मीलों को दूर-दूर के क्षेत्रों से कच्चा माल मँगाना पड़ता था। इसके कारण यातायात का खर्च बढ़ जाता था। इसी प्रकार बंबई में जलविद्युत शक्ति का खर्च अधिक था। मजदूर लोग अधिकांश में बाहर से बुलाये जाते थे, इसलिए उनको मजदूरी की ऊँची दर, रहने के मकान और अन्य सुविधायें देनी होती थीं। जो कुछ माल बंबई में बनता था, उसको उत्तरी भारत के बाजारों में बेचने के लिये, बंबई की मीलों को रेल का खर्च उठाना पड़ता था, इसलिये वहाँ जाकर यह माल अधिक महँगा पड़ता था। बंबई के उद्योगों पर स्थानीय कर भी बहुत अधिक थे। इसके अतिरिक्त प्रान्तीय सरकार के द्वारा श्रम कानून भी अधिक कड़ाई से लागू किये जाते थे, जब कि उत्तरी भारत विशेषकर देशी रियासतों में, या तो कानून थे ही नहीं, अथवा

उन्हें कार्यान्वित नहीं किया जाता था। इन सब कठिनाइयों के कारण बंबई में मिलों का उत्पादन-व्यय उत्तरी भारत की मीलों की अपेक्षा अधिक होता था। इसके फलस्वरूप बंबई में कपड़ा उद्योग की लाभ की दर अन्य स्थानों की अपेक्षा बहुत कम हो गई थी। ऐसी स्थिति में १९२९ की मंदी के प्रभाव का मुकाबला करने की, बंबई के उद्योगों में सामर्थ्य नहीं थी। इसलिये मंदी के कारण सबसे अधिक अव्यवस्था बम्बई की मीलों में हुई।

संरक्षण का आरम्भ

भारत के कपड़ा उद्योग के इतिहास में मुख्यतया तीन बातें प्रभाव डाल रही हैं। सर्वप्रथम इंग्लैण्ड की मीलों का कपड़ा प्रारंभिक काल में भारतीय कपड़ों से प्रतिस्पर्धा करता रहा है। इंग्लैण्ड के इस व्यापार को भारत सरकार का संरक्षण प्राप्त था। लगभग ५० वर्ष तक भारत सरकार की वैदेशिक व्यापार नीति इस मुख्य बात पर आधारित थी कि किस प्रकार से अँग्रेजी कपड़े के व्यापार को भारतीय बाजारों में प्रोत्साहन दिया जाय। दूसरे, भारत के सूती कपड़े के उद्योग के पीछे 'स्वदेशी' की भावना सदा कार्य करती रही है। यद्यपि उद्योग को राज्य की ओर से संरक्षण प्राप्त नहीं था, परंतु राष्ट्रीयता की भावना के कारण, आम जनता उद्योग के विकास के पक्ष में रही है, और इसलिये कपड़ा उद्योग के लिये सदा संरक्षण की माँग सबसे तीव्र रही है। तीसरे, प्रथम महायुद्ध के पश्चात् जापान की प्रतिस्पर्धा भारतीय मीलों के विकास में सबसे बड़ी बाधा रही है। इसके कारण १९२९ के पश्चात् भारतीय सरकार के सामने यह समस्या रही है कि कपड़ा उद्योग को इतना संरक्षण दिया जाय कि जिससे भारत में जापानी माल आना कम हो, साथ ही अँगरेजी माल की खपत को कोई नुकसान न पहुँचे और भारतीय

उद्योग इतना अधिक बढ़ भी न जाय कि लंकाशायर और मैनचेस्टर की कपड़े की मिलों को नुकसान न पहुँचे। संरक्षण का सारा इतिहास इन तीन बातों से प्रभावित हुआ है।

सबसे पहले सन् १९२६ में कपड़ा उद्योग की संरक्षण की दृष्टि से जाँच की गई। इस समय जापान और भारत की कपड़े की मीलों में काफी प्रतिस्पर्धा थी। यद्यपि मंदी आरम्भ नहीं हुई थी, परन्तु उद्योगपतियों में इसके प्रति डर अवश्य पैदा हो गया था। १९२०-२१ के काँग्रेस आन्दोलन के फलस्वरूप स्वदेशी की भावना काफी जागृत हो चुकी थी। इसलिये सरकार ने संरक्षण की माँग की जाँच के लिये टैरिफ बोर्ड (Tariff Board) नियुक्त किया। १९२७ में इस बोर्ड ने अपनी रिपोर्ट प्रकाशित की, जिसमें उद्योग के ह्रास के कारणों और ह्रास के उपचारों पर प्रकाश डाला गया। बोर्ड के मतानुसार उद्योग के ह्रास के निम्न कारण थे :—

(१) जापान ने असामाजिक रीतियों से भारतीय उद्योग को हानि पहुँचाई।

(२) भारतीय मीलों का आन्तरिक संगठन दोषपूर्ण रहा है, जैसे—कुछ मीलों में आवश्यकता से अधिक पूँजी लगी हुई थी, कुछ श्रमिकों की उत्पादन शक्ति बहुत असंतोषजनक थी और कुछ मीलों में उत्पादन की क्रियायें वैज्ञानिक ढंग की नहीं थीं। इसी प्रकार अधिकांश मीलों का प्रबन्ध 'मैनेजिंग एजेन्सी पद्धति' के द्वारा होता था, जिसके फलस्वरूप जनता का उद्योग के विकास में विश्वास उठ गया था।

(३) संसार व्यापी मंदी का प्रभाव भारत की कपड़े की मीलों पर भी पड़ा।

परिस्थिति में सुधार करने के लिये बोर्ड ने कुछ निम्न सुझाव रक्खे :—

(१) कपड़े की मीलों में श्रमिक की उत्पादन-शक्ति बढ़ाने की आवश्यकता है। मीलों में मजदूर नियुक्त करते समय उनकी कुशलता पर विशेष ध्यान देना चाहिये। कारखाने के अंदर का वातावरण, औजार, काम करने की सुविधायें, आराम के लिये प्रबन्ध और काम करने के घंटों पर राज्य का नियमन होना चाहिये। इसके अतिरिक्त श्रमिक वर्ग के साधारण शिक्षण और ट्रेनिंग के लिए मील-मालिकों को प्रयत्न करना चाहिये। साथ ही उनके रहने के लिये शहर में मकान का इंतजाम करना चाहिये। इन विभिन्न उपायों के द्वारा श्रमिक वर्ग अधिक स्वस्थ, कुशल और अधिक संतुष्ट हो सकेगा और वह उत्पादन में उत्साहपूर्वक अपना सहयोग दे सकेगा।

(२) भारतीय मीलों को अपने उत्पादन की किस्म और मात्रा में परिवर्तन करने की आवश्यकता है। बहुत सी मीलें उत्तरी भारत के बाजारों की आवश्यकता के अनुसार बीच के दर्जे का माल नहीं बनातीं। उनके रंग या छपाई इत्यादि उपभोक्ताओं की आवश्यकता के अनुसार नहीं होती। बाजार में माल की खपत बढ़ाने के लिए विभिन्न प्रकार के कपड़े बनाना आवश्यक है।

(३) अब तक बम्बई की कपड़े की मीलें कुछ विशेष प्रकार कपड़ा बनाती रही, जिसकी माँग व्यापक नहीं थी। यहाँ की मीलों को जलवायु सम्बन्धी सुविधा का लाभ उठाना चाहिये। अच्छे प्रकार के महीन कपड़े बम्बई में विशेष तौर पर बनाये जा सकते हैं।

(४) उत्पादन के कुछ ऐसे क्षेत्र भी हैं, जिनमें कि भारत की कपड़े की मीलों ने बहुत कम प्रगति की है। जैसे—छींट के कपड़े, छपाई और गहरे रंग के कपड़े।

(५) मीलों को अपने कच्चे माल के लिये अधिक संगठित होना चाहिये। रुई पैदा करने वाले क्षेत्रों में मील के एजेन्ट नियुक्त होने

चाहिये, जो कि मूल्य परिवर्तनों से लाभ उठाकर अपनी मीलों के लिए सस्ते दर पर नियमित रूप से कपास भेज सकें।

(६) अब तक भारत ने तो भारतीय बाजार में अथवा दक्षिणी-पूर्वी एशिया में ही अपना माल बेचने की कोशिश की है। भविष्य में पड़ोसी देशों में जैसे ईरान, ईराक, अफगानिस्तान, अरब इत्यादि देशों में भी बाजार ढूँढ़ने की कोशिश करनी चाहिये।

बोर्ड ने इन सुझाओं के अतिरिक्त उद्योग को सरकारी संरक्षण देने की भी सिफारिश की। बोर्ड ने सरकार से सिफारिश की कि सूत पर आयात कर ११ प्रतिशत से बढ़ाकर १५ प्रतिशत कर देना चाहिये। इसके अतिरिक्त बारीक सूत की कताई के लिये सरकार द्वारा आर्थिक सहायता दी जानी चाहिये और सूती कपड़े की मिलों की मशीनरी, भारी रासायनिक पदार्थ, रंग इत्यादि पर आयात कर नहीं लगाना चाहिये। बोर्ड की इन सिफारिशों को सरकार ने मंजूर नहीं किया। केवल अंतिम सिफारिश को सरकार ने अपनी अनुमति दी। इसके फलस्वरूप जनता में विशेषकर सूती कपड़े के उद्योग से सम्बन्धित उद्योगपतियों और व्यापारियों में असंतोष फैला। सरकार के निर्णय के विरुद्ध समाचार पत्रों में और विधान सभाओं में काफी प्रचार किया गया। इस विरोध-प्रदर्शन के फलस्वरूप सरकार ने अपने निर्णय में परिवर्तन किया। १९२७ में Indian Tariff Textile Protection Amendment Act के अन्तर्गत सूती कपड़े के आयात पर ५ प्रतिशत यथामूल्यकर (Ad Valorem duty) लगाया गया। इसके अतिरिक्त सूती कपड़े की मशीन इत्यादि पर भी आयात कर उठा दिया गया। सरकार ने भारतीय कपड़े की विदेशों में बिक्री बढ़ाने के लिए विदेशों में अपने प्रतिनिधि नियुक्त किये और भारत में एक व्यापारिक कमीशन नियुक्त किया गया। परन्तु इन सब उपचारों के उपरान्त

भी कपड़े के उद्योग में किसी प्रकार का सुधार नहीं हुआ। जो कुछ आयात कर लगाये गये वे अपर्याप्त थे। दूसरे, जापानी कपड़े की प्रतिस्पर्द्धा बढ़ती जा रही थी। तीसरे, १६२६ की मंदी में प्रभाव धीरे-धीरे दृष्टिगोचर हो रहा था। इसलिए संरक्षण प्राप्त हो जाने पर भी भारतीय उद्योगपतियों को कोई संतोष नहीं हुआ।

१६२७ के Tariff Act की अवधि ३१ मार्च १६३० तक थी। इसलिए १६२६ में उद्योग की स्थिति का विश्लेषण करने की आवश्यकता पड़ी। १६२६ में जी० एस० हार्डी (G. S. Hardy) की अध्यक्षता में कपड़े के उद्योग की जाँच आरंभ हुई। जी० हार्डी ने उद्योग को संरक्षण देने की सिफारिश की। हार्डी ने कपड़े के आयात पर १५ प्रतिशत कर तथा सूत के आयात पर ३½ आना प्रति पौंड कर की सिफारिश की। इन सिफारिशों के आधार पर १६३० में एक नया ऐक्ट पास हुआ। इसके अंतर्गत भारतीय सूत को विशेष संरक्षण देने के लिए ५ प्रतिशत आयात कर गैर-ब्रिटिश सूत पर लगाया गया। इसके कारण भारतीय उद्योगपतियों में ब्रिटिश सरकार की नीति के प्रति संशय और प्रतिरोध की भावना उत्पन्न हुई। उनके अनुसार यह विशेष संरक्षण भारतीय उद्योगों को संरक्षण देने की दृष्टि से नहीं, परन्तु ब्रिटिश माल को भारतीय बाजारों में जापानी माल से संरक्षण देने की योजना थी।

१६२७ का टेरिफ ऐक्ट १६३० में समाप्त हुआ। १६३१ के नए बजट के अनुसार ५ प्रतिशत यथा मूल्य कर (Ad Valorem duty) विदेशी कपड़े पर लगाया गया और २५ प्रतिशत अतिरिक्त आयात कर (Surcharge on the Import) लगाया गया। इसके फलस्वरूप ब्रिटिश कपड़े पर आयात कर २५ प्रतिशत हुआ और गैर-ब्रिटिश माल पर ३१¼ प्रतिशत हुआ।

१६३० का टेरिफ ऐक्ट ३१ मार्च १६३३ तक लागू रह सकता

था। इसलिए उद्योग की स्थिति पर पुनर्विचार करने की आवश्यकता हुई। १६३२ में जापानी प्रतिस्पर्धा बहुत अधिक बढ़ गई थी। इसके कारण केवल भारतीय उद्योग को ही हानि नहीं हुई बल्कि ब्रिटिश व्यापार को भी हानि पहुँच रही थी। भारतीय मीलों की स्थिति और भी अधिक गंभीर बन गई थी। १६३२ के मार्च के महीने में सारे प्रश्न की जाँच करने के लिए "टेरिफ बोर्ड" नियुक्त किया गया। बोर्ड की जाँच पूरी भी नहीं हो पाई थी कि इसी बीच में जापान ने अपने सिक्के येन (Yen) का अवमूल्यन कर दिया। इस परिवर्तन के फलस्वरूप जापानी माल भारत में और भी सस्ता पड़ने लगा और कपड़े के उद्योग और व्यापार में संकटकालीन स्थिति उत्पन्न हो गई। इसलिए भारतीय सरकार ने टेरिफ बोर्ड को तत्कालिक जाँच के लिए आदेश दिया। इस जाँच के फलस्वरूप जापानी कपड़े पर आयात कर ३१¼ प्रतिशत से बढ़ाकर ५० प्रतिशत तक बढ़ा दिया गया और २-३ महीने के पश्चात् उसमें और भी वृद्धि कर उसे ७५ प्रतिशत कर दिया। १६३० का टेरिफ ऐक्ट ३१ मार्च १६३३ को समाप्त होने वाला था, उसकी अवधि बढ़ाकर ३१ अक्टूबर १६३३ कर दी गई और फिर कुछ समय पश्चात यह अवधि ३० अप्रैल १६३४ तक बढ़ा दी गई।

१९३४ के आरंभ में जापान और भारत के व्यापारिक संबंध में कुछ परिवर्तन की आशा थी। अब तक भारत और जापान के व्यापारिक संबंध १९०४ के समझौते के अनुसार निर्धारित होते थे। इस समझौते के अंतर्गत भारत जापान के विरुद्ध किसी भी प्रकार का पक्षपात नहीं कर सकता था, परन्तु १६३० से ही भारतीय बाजारों में जापानी माल की प्रतिस्पर्धा बहुत अधिक बढ़ गई थी। इसलिए १६०४ का समझौता तत्कालीन परिस्थिति में व्यवहारिक नहीं माना जा सकता था। अतः जापान और भारत में एक नया

व्यापारिक समझौता हुआ। उधर ब्रिटेन और भारत के व्यापारिक संबंधों में भी कुछ वर्षों से खींचा-तानी चल रही थी। अब तक ब्रिटिश उद्योगपतियों को भारतीय सरकार की ओर से संरक्षण मिलता रहा। परंतु इस नीति के फलस्वरूप भारत में ब्रिटेन के प्रति असंतोष और विरोध बढ़ रहा था। इसलिए भारतीय सरकार यह चाहती थी कि भारत के उद्योगपतियों और ब्रिटेन के उद्योग-पतियों में आपसी समझौता हो जाय तो अधिक अच्छा हो। १९३४ में दोनों देश के कपड़े के उद्योगपतियों में एक नया सम-झौता हुआ जिसे "Mody-Lees Pact" कहते हैं। भारत और जापान के नये समझौते और "मोदी लीज़" समझौते के अनुसार गैर-ब्रिटिश माल पर आयात कर ७५ प्रतिशत से घटाकर ५० प्रति-शत रखा गया। अन्य सारे कर पूर्ववत् रख गये।

उपर्युक्त दोनों समझौते के फलस्वरूप भी उद्योग की स्थिति में कोई विशेष परिवर्तन नहीं हुआ और न भारतीय उद्योगपतियों को उनसे संतोष ही हुआ। भारत की यह शिकायत बनी ही रही कि भारतीय सरकार की विदेशी व्यापार-नीति ब्रिटिश हितों के द्वारा प्रभावित हुई। १९३६ में इस प्रश्न पर विचार करने के लिये एक विशेष टेरिफ बोर्ड नियुक्त किया गया। इस बोर्ड का मुख्य उद्देश्य भारत के कपड़े के उद्योग को ब्रिटिश कपड़े के व्यापार के विरुद्ध संरक्षण के प्रश्न पर विचार करना था। परंतु जिस आशा से बोर्ड नियुक्त किया गया, ठीक उसके विपरीत बोर्ड के सभी सदस्यों ने एकमत से ब्रिटिश कपड़े के व्यापार पर आयात कर घटाने की सिफारिश की। बोर्ड की सिफारिश के अनुसार विदेशी सफेद कपड़े पर आयात कर २५ प्रतिशत से घटाकर २० प्रतिशत कर दिया गया और इसी प्रकार रङ्गीन कपड़े पर भी ५ प्रतिशत कर की कमी की गई। इस परिवर्तन के फलस्वरूप देश में और नई स्थिति उत्पन्न

हुई, जिससे भारत और ब्रिटेन में नये व्यापारिक समझौते की आवश्यकता पड़ी। १६३७ में "इन्डो बृटिश ट्रेड एग्रीमेन्ट" नामक नया समझौता भारत और ब्रिटेन में हुआ।

इस समझौते के अनुसार ब्रिटिश कपड़े के आयात पर आयात-कर में कमी की गई। अब तक भारत से रुई के निर्यात में और ब्रिटेन से कपड़े के आयात में कोई संबन्ध नहीं था। नए समझौते के अनुसार दोनों में संबंध स्थापित किया गया। इसके अतिरिक्त विदेशी छपे हुये कपड़े पर आयात कर १७½ प्रतिशत से घटाकर १५ प्रतिशत कर दिया गया। अन्य सब प्रकार के कपड़ों पर भी १५ प्रतिशत आयात कर लगाया गया। ब्रिटेन से कपड़े का आयात निश्चय किया गया। यदि किसी भी वर्ष में ३ करोड़ २० लाख गज से कम कपड़ा, ब्रिटेन भारत को भेजेगा तो २½ प्रतिशत आयात कर में कमी कर दी जायगी। यदि किसी भी वर्ष में ५ करोड़ गज कपड़े से अधिक ब्रिटेन से कपड़ा खरीदा गया तो ब्रिटिश माल पर आयात कर में किसी प्रकार की भी रियायत नहीं की जाएगी। भारत में ब्रिटेन को रुई का निर्यात भी निर्धारित किया गया। १६३६ में रुई की ५ लाख गाँठें, १६४० में ५.५ लाख गाँठें और १६४१ में ६ लाख गाँठें। प्रति वर्ष ब्रिटेन, भारत से इतनी रुई खरीदता था—इस बात का भी ब्रिटेन के आयात कर में रियायत करते समय ध्यान रखा जाता था। प्रथम बार ब्रिटिश कपड़े के आयात और भारतीय रुई के निर्यात में पारस्परिक संबंध स्थापित हुआ और उसके अनुसार आयातकर में परिवर्तन करने की योजना रखी गई। इस नये समझौते से भारत के उद्योगपतियों को संतोष नहीं हुआ। उनके मतानुसार नया समझौता भारत के हितों के विरुद्ध था। इस समझौते से लंकाशायर और मैनचेस्टर की मिलों को कच्चा माल नियमित रूप से मिलने का प्रबन्ध हो

गया था और भारत में ब्रिटिश कपड़े के आयात की भी एक प्रकार से पूरी गारंटी हो गई थी। इसलिए भारत से कच्चा माल प्रति वर्ष जाने लगा और पक्का माल भारत के बाजारों में ब्रिटेन से आने लगा। भारत के विरोध के पश्चात् भी भारतीय सरकार ने इस नये समझौते को भारत पर लागू कर दिया और यह नया समझौता ३१ मार्च १९४२ तक लागू किया गया।

कपड़े के उद्योग पर द्वितीय महायुद्ध का प्रभाव

द्वितीय महायुद्ध के प्रभाव का विश्लेषण करने से पूर्व भारतीय कपड़े के उद्योग की युद्ध के आरंभ होने के समय जो स्थिति थी उस पर विचार आवश्यक है। १९३९ में भारत के कपड़ा-उद्योग की स्थिति संतोषजनक नहीं थी। बहुत सी मीलों में विशेषकर अहमदाबाद और बंबई में उत्पादन का कार्य शिथिल पड़ गया था अनेक स्थानों पर शिफ्ट कम की जा रही थी। मजदूरों में असंतोष फैल रहा था और उद्योग में लाभ की दर घटती जा रही थी। १९२९ की मंदी का प्रभाव कपड़े के उद्योग पर स्पष्ट प्रतीत होता था। ग्रामीण क्षेत्रों में आर्थिक स्थिति बिगड़ने के कारण कपड़े की माँग घटती जा रही थी। जापान फिर से भारत के बाजार में दुगनी ताकत से प्रतिस्पर्धा कर रहा था। बंबई की मीलों की स्थिति और भी अधिक खराब थी उस प्रदेश में जायदाद पर १० प्रतिशत कर लगने से मिलों का उत्पादन-व्यय बढ़ गया था। इसके अतिरिक्त बंबई में मजदूरों की परिस्थिति बिगड़ती जा रही थी। १९३७ और ३८ में मूल्यों में कुछ अधिक कमी हुई, जिसका प्रभाव कपड़े के उद्योग पर प्रत्यक्ष रूप से पड़ा। द्वितीय महायुद्ध आरंभ होने तक उद्योग में निराशा की स्थिति बनी हुई थी, परन्तु युद्ध आरंभ होते ही, बाजारों पर उसका प्रभाव तत्कालिक हुआ। इसलिये कपड़े के

उद्योग पर भी उसका आशाजनक प्रभाव पड़ा, जो कि निम्न प्रकार से हुआ :—

(१) व्यापारियों और उद्योगपतियों को प्रथम महायुद्ध से अर्जित लाभ की याद थी। द्वितीय महायुद्ध आरंभ होते ही उनमें लाभ अर्जित करने की नई आशा उत्पन्न हो गई। जिन लोगों के पास बहुत कुछ माल दबा हुआ पड़ा था उसे वे बेंचने के लिये उत्सुक नहीं थे और सारे व्यापारी जगत में माल को और भी अधिक दबाकर रखने की प्रवृत्ति बढ़ गई। इसका प्रभाव कपड़े के मूल्य पर तुरंत ही पड़ा, अर्थात् बाजार के भाव धीरे-धीरे बढ़ने लगे।

(२) १९४१ में जापान के युद्ध में उतर पड़ने के कारण जापानी माल, पूँजी और यातायात साधनों को भारतीय सरकार ने हस्तान्तरित कर लिया। इसके फलस्वरूप भारत के बाजार में जापानी कपड़े की कमी हुई, प्रतिस्पर्धा समाप्त हो गई और भारतीय कपड़े की माँग बढ़ गई। १९४२ तक प्रायः प्रत्येक वस्तु के भाव चौगुने हो गये थे। ब्रिटेन जापान तथा अन्य देशों से कपड़े का आयात बंद हो गया और भारतीय कपड़े को एक प्रकार से भारतीय बाजार में एकाधिकार मिला।

(३) विदेशों में ब्रिटिश कपड़े और जापानी कपड़े की बहुत कमी हो गई। यातायात की कठिनाइयों के कारण उन देशों में विदेशी कपड़ा पहुँचना मुश्किल हो गया। इसलिये भारतीय कपड़े की खपत वहाँ पर बढ़ गई और धीरे-धीरे भारत से कपड़ा दक्षिणी-पूर्वी एशिया, मध्य पूर्व और अफ्रीका को जाने लगा।

(४) ज्यों-ज्यों लड़ाई अधिक तेजी पकड़ती गई, भारतीय कपड़े की माँग भी बढ़ती गई। भारतीय सरकार को सैनिक आवश्यकता के लिये कपड़े की जरूरत पड़ने लगी।

(५) यद्यपि भारतीय बाजार में और विदेशों में भारतीय कपड़े

की माँग बढ़ी परन्तु मशीन, रंग, रासायनिक पदार्थ, यातायात, कुशल श्रमिक इत्यादि की कमी के कारण देश में उत्पादन उस तीव्र गति से नहीं बढ़ पाया, जिस गति से कपड़े की माँग बढ़ी। इसलिये देश में कपड़े के बाजार की स्थिति खराब होती चली गई।

कपड़े के उद्योग की युद्धकालीन समस्याएँ

(१) प्रत्येक युद्ध के कारण प्रत्येक देश की अर्थ-व्यवस्था में कुछ विशेष आर्थिक समस्यायें उत्पन्न हो जाती हैं। युद्धकाल में प्रायः सभी वस्तुओं की माँग बढ़ती है, परन्तु उनके उत्पादन साधनों को प्राप्त करना कठिन कार्य हो जाता है। इसलिये प्रत्येक वस्तु की माँग और पूर्ती में अंतर उत्पन्न हो जाता है। युद्धकाल में देश की औद्योगिक शक्ति का उपयोग अधिकांश में सुरक्षा के लिये किया जाता है। इसलिये देश का समस्त औद्योगिक संघटन सैनिक आवश्यकताओं की दृष्टि से राज्य द्वारा हस्तान्तरित कर लिया जाता है। कपड़े के उद्योग पर भी द्वितीय महायुद्ध का प्रभाव बहुत गंभीर हुआ है। एक ओर युद्ध के कारण उद्योग के विकास के लिये अवसर खुला और दूसरी ओर उसके विकास के लिये कठिनाइयाँ उत्पन्न हो गईं। युद्ध आरंभ होने के पूर्व रासायनिक पदार्थ, रंग, मशीन और कल-पुर्जे इत्यादि के लिये उद्योग को विदेशों पर निर्भर रहना होता था। युद्ध आरंभ होते ही विदेशों से इन वस्तुओं का आयात रुक गया और उत्पादन के विकास पर इसका गहरा प्रभाव पड़ा। १९४१ तक जर्मनी और फ्रांस से प्रत्येक प्रकार का माल आना बंद हो चुका था। इसके फलस्वरूप रंग के दाम प्रायः चौगुने हो गये। जो कुछ रंग भारत के बाजारों में मिल सकता था वह काले बाजार की दर पर बिकने लगा।

(२) मशीन और कल-पुर्जों को प्राप्त करने में भी उद्योग को

वहुत कठिनाई उठानी पड़ती थी विशेषकर बंबई की मीलों के कल-पुर्जे वहुत अधिक उत्पादन करने और दो शिफ्ट काम करने के कारण घिस चुके थे। बाहर से नई मशीनें और कल-पुर्जे मंगाना युद्ध के कारण बिल्कुल असंभव था इसके अतिरिक्त विदेशों में मशीन निर्माण करने के उद्योग अधिकतर सैनिक सामग्री बनाने में लगे हुये थे। भारत में जो कुछ कल-पुर्जे बनते थे उनके कारखानों पर राज्य ने अपना नियंत्रण लगा दिया था। जो कुछ मशीनें और कल-पुर्जे बाहर से मंगाये जाते थे वे बिल्कुल अपर्याप्त थे। क्योंकि देश की मशीनें बहुत पुरानी पड़ गई थीं और युद्ध भी ६ वर्ष के ऊपर चलता रहा। युद्ध समाप्त होने के पश्चात् भी मीलों की यह कठिनाई दूर नहीं हो पाई। ब्रिटेन अपने पुनर्निर्माण के कार्य में इतना व्यस्त हो चुका है कि विदेशों को बहुत अधिक मशीनें और कल-पुर्जे नहीं भेज सकता। अमेरिका से मशीनें मंगाने में दो कठिनाइयां हैं :—(१) अमरीकी मशीनें भारतीय परिस्थिति में इतनी अधिक उपयुक्त नहीं हो सकतीं और (२) भारत के पास डालर की राशि इतनी कम है कि बड़े पैमाने पर अमेरिका से किसी भी वस्तु का आयात नहीं किया जा सकता। विशेष रुपये के अवमूल्यन के पश्चात् अमरीकी माल और भी अधिक मंहगा हो गया है। इस प्रकार लगभग १० वर्ष से उद्योग को नई मशीनें और कल-पुर्जे प्राप्त करने की कठिनाई का सामना करना पड़ रहा है।

(३) द्वितीय महायुद्ध आरम्भ होते ही कपड़े के बाजार के भाव काफी ऊँचे उठ चुके थे। दूसरी ओर देश की सैनिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये सरकार की कपड़े की मांग बढ़ रही थी, इसलिये युद्ध के प्रारंभिक समय में ही देश में कपड़े की कमी उत्पन्न हो गई। वस्त्र समस्या को हल करने के लिये सरकार ने उद्योग पर अनेक प्रकार के नियंत्रण लगाये। कुछ समय तक उत्पादन का माल और प्रकार

पर नियंत्रण लगाया गया, उसके पश्चात् कपड़े के वितरण पर नियंत्रण रहा। फिर कपड़े के मूल्य-स्तर पर राज्य का नियंत्रण रखा गया। युद्धकाल में निस्संदेह व्यापक नियंत्रणों की आवश्यकता होती है; परन्तु ये नियंत्रण काफी संगठित और सुसंचालित होने चाहिये। दुर्भाग्य से नियंत्रण का प्रयोग हमारे देश में इतना अधिक सफल नहीं हुआ। इसके फलस्वरूप कालाबाजार, भ्रष्टाचार और अलाभ-कारी एवं असामाजिक प्रवृत्तियों को अधिक प्रोत्साहन मिला। इसलिये कपड़े के उद्योग पर इस प्रकार की कुव्यवस्था का बुरा प्रभाव पड़ा। उद्योगपतियों का राज्य की औद्योगिक नीति से विश्वास उठ गया। नियंत्रणों के कारण वैयक्तिक व्यापार अस्त-व्यस्त हो गया और अधिक उत्पादन के कारण मीलों का यांत्रिक दृष्टि से बहुत अधिक ह्रास हुआ। सारांश में, आम जनता जिस उद्योग को स्वदेशी आन्दोलन के समय सरकार की इच्छा के विरुद्ध भी संरक्षण देने के पक्ष में थी, उस उद्योग के प्रति उसमें एक प्रकार का अविश्वास उत्पन्न हो गया।

(४) हमारे देश में कोयले की खदानें अधिकांश में बिहार और बंगाल में स्थित हैं। इस प्रकार के केन्द्रीकरण से देश के औद्योगिक संगठन में एक प्रकार की अस्थिरता उत्पन्न होती है। शक्ति के स्रोत का देश भर में समान वितरण न होने के कारण देश का आर्थिक ढांचा कमजोर हो जाता है। युद्धकाल में यह त्रुटि और अधिक गंभीर रूप में उद्योग-पतियों के सामने आई। बंबई की मिलों को छोड़कर प्रायः सभी स्थानों की कपड़े की मिलें कोयले का उपयोग करती हैं। कुछ कारणों से युद्धकाल में कोयले की कमी पड़ गई। सैनिक तैयारियों के कारण रेल के डिब्बों की कमी हुई और कोयला-क्षेत्रों से औद्योगिक क्षेत्रों तक यातायात के प्रबन्ध करने की कठिनाई उत्पन्न हो गई। दूसरे, अधिक कोयला उत्पादन करने के लिये पर्याप्त

और कुशल श्रम की आवश्यकता होती है। युद्धकाल में श्रम की कमी हुई। विशेषकर जापानियों के बर्मा पर कब्जा करने पर कोयले की खानों के मजदूर बिहार और बंगाल छोड़कर देश के आन्तरिक भागों में भागने लगे। साथ ही कोयले की माँग भी बहुत तेजी के साथ देश में बढ़ रही थी। इसके फलस्वरूप उसका मूल्य भी बहुत तेजी के साथ बढ़ा। उदाहरण के लिये १९४२ के अप्रैल मास में इसका भाव ५½ रुपये टन था और दिसम्बर मास में वह ७ रुपये प्रति टन हो गया।

इस स्थिति को काबू में लाने के लिये भारत सरकार ने विशेषज्ञ नियुक्त किये। रेल यातायात का पुनर्संगठन किया और विशेष विभाग नियुक्त किया। परन्तु फिर भी स्थिति बिगड़ती ही चली गई। १९४५ में बहुत से स्थानों में मीलें केवल इसलिये बन्द हो गई कि उनके पास कोयला समय पर पर्याप्त मात्रा में नहीं पहुँच पाता था। राज्य के अनुमान के अनुसार केवल कोयले की कमी के कारण १७ महीने में लगभग १ करोड़ ९२ लाख कपड़े का नुकसान देश को हुआ, अर्थात् वार्षिक आयात का लगभग २ प्रतिशत उत्पादन केवल कोयले की कमी के कारण नहीं हो पाया। शोलापुर, अहमदाबाद और इन्दौर इत्यादि शहरों की मीलों को विशेष तौर पर अधिक हानि हुई। बम्बई की मीलें इस हानि से बच गईं क्योंकि ये जल-विद्युत शक्ति का उपयोग करती हैं।

यातायात

(५) देश में कपड़े का उद्योग प्रायः सभी क्षेत्रों में फैला हुआ है। इसलिये उसे रेल यातायात की बहुत अधिक आवश्यकता पड़ती है। परन्तु युद्धकाल में सैनिक कार्यों के लिए रेल के डिब्बों का बहुत अधिक उपयोग हो रहा था। इसी प्रकार जहाज और सड़क याता-

यात भी सैनिक अधिकारियों के निरीक्षण में कार्य कर रहे थे। युद्ध के कारण विशेषकर जहाजों को बहुत हानि हो चुकी थी। इन सब कारणों से न देश में आंतरिक यातायात की सुविधा थी और न सामुद्रिक यातायात की। इसका प्रत्यक्ष प्रतिशत प्रभाव देश के कपड़ा उद्योग पर पड़ा। यातायात की कठिनाई के कारण कोयला क्षेत्रों एवं रुई के क्षेत्रों से कोयला एवं रुई को कपड़े की मीलों तक पहुँचाना कठिन हो गया। इसके अतिरिक्त श्रमिकों की पूर्ति में भी बाधा उत्पन्न हुई और उत्पादित कपड़े के वितरण की कठिनाई उत्पन्न हो गई। तात्पर्य यह है कि जिन मीलों को आवश्यक सामग्री पर्याप्त मात्रा एवं उपयुक्त समय पर न मिल पाई उन्हें या तो पूर्ण रूप से अपना कार्य स्थगित कर देना पड़ा या कार्य की मात्रा कम कर देनी पड़ी। इस प्रकार देश का सारा कपड़ा उद्योग प्रायः अस्त-व्यस्त हो गया।

मशीन और कल-पुर्जे की कठिनाई

(६) प्रथम महायुद्ध में भारत के उद्योग-धंधे न इतने व्यापक थे और न इतने विकसित। युद्धकाल में सामुद्रिक यातायात इतना अधिक अव्यवस्थित नहीं हुआ था, इसलिये प्रथम महायुद्ध के समय कल-पुर्जे प्राप्त करने में उतनी कठिनाई नहीं उठानी पड़ी। परन्तु द्वितीय महायुद्ध में कारखानों के लिए यह सबसे बड़ी समस्या बन गई थी। सामुद्रिक यातायात प्रायः असंभव हो गया था। विदेशों में मशीनें बनाने के कारखाने युद्ध सामग्री बना रहे थे। विदेशी विनिमय की भी देश में कठिनाई थी। जो कुछ भारत में मशीनों का स्टॉक था वह यहाँ की परिस्थिति को देखते हुये बिल्कुल अपर्याप्त था। युद्धकाल में प्रायः सारे कारखाने दो या तीन शिफ्ट में काम कर रहे थे। बहुत लंबे समय से न उनकी मशीनें बदली

गई और न टूट फूट का ही सुधार किया गया। युद्धोत्तर काल में भी यह समस्या कुछ सुलझ नहीं पाई है। इंगलैण्ड के कारखाने पुनर्निर्माण में व्यस्त हैं और अमेरिका से मशीन मँगाने में डालर की कठिनाई उत्पन्न होती है।

नियंत्रण (कन्ट्रोल्स)

(८) द्वितीय महायुद्ध के फलस्वरूप देश में कपड़े की बहुत अधिक कमी हो गई। सरकार को अपना व्यय कम करने के लिये बाजार से नियंत्रित मूल्य पर कपड़ा खरीदना पड़ता था। सुदूरपूर्व और दक्षिण पूर्वी क्षेत्रों के लिए भारत से युद्ध-सामग्री का निर्यात निरंतर होता रहा। इस सब कार्य को सफल बनाने के लिये सरकार ने कपड़े पर नियंत्रण लगाया। साधारण तौर पर नियंत्रण का कपड़े के उद्योग पर इतना बुरा प्रभाव नहीं पड़ना चाहिये था। यदि नियंत्रण के साथ-साथ कपड़े की मिलों को उत्पादन के साधन भी उपलब्ध कर दिये जाते तो बहुत सम्भव है देश में कपड़े की कमी न आती और कपड़े का वितरण जनता की आवश्यकतानुसार हो सकता था। युद्धकाल की अर्थव्यवस्था के लिये नियंत्रण का अंकुश स्थापित करना आवश्यक होता है; परन्तु उनकी कार्य पद्धति और संचालन दोनों ही अच्छे दर्जे के होने चाहिये। दुर्भाग्य से नियंत्रण का संचालन हमारे देश में अनेक कारणों से असफल रहा। विशेष कर कपड़े के नियंत्रण के फलस्वरूप कपड़े के उद्योग पर बहुत अहितकारी प्रभाव पड़ा। उदाहरण के लिये कपड़े की किस्म पर कुछ समय के लिये नियंत्रण लगाया गया—(Standard cloth and utility cloth)। परन्तु इसके कारण मिलों के उत्पादन में कमी हुई। चोरी से बारीक कपड़ा बनाया जाने लगा। और अन्त में चलकर उसका प्रभाव वितरण की व्यवस्था पर भी पड़ा। एक ओर

सरकार अधिक उत्पादन पर जोर देती थी। परन्तु दूसरी ओर उत्पादन साधनों की कमी होती जा रही थी। उत्पादन की मात्रा पर नियंत्रण लगाने से अप्रत्यक्ष रूप से मशीन और कल-पुर्जों पर अधिक दबाव पड़ा और वे समय से ही पहले पुराने पड़ गये। कपड़े के वितरण पर भी राज्य ने जो नियंत्रण स्थापित किया, उस का कपड़े के व्यापार पर अच्छा प्रभाव नहीं हुआ। साधारण रूप से अब तक कपड़े का जो वितरण छोटे-छोटे व्यापारियों के द्वारा होता था, उसमें अनेक बाधाएँ खड़ी हो गईं। व्यापार का सामान्य संगठन एक प्रकार से अव्यवस्थित हो गया। नियंत्रण के कारण कपड़े के उद्योग और व्यापार दोनों में ही अस्थिरता और अनिश्चियात्मकतता सारे युद्ध के समय में बनी रही, जिसके कारण कपड़े के उद्योग के प्रति आम जनता का उत्साह और विश्वास समाप्त हो गया।

श्रम

(८) युद्धकाल में भारत सरकार की श्रम नीति के कारण मजदूरों की हड़तालों की संख्या कुछ कम रही। विशेष कर १९४२ के अगस्त मास के पश्चात् केवल अहमदाबाद की मिलों को छोड़ कर और कहीं पर लम्बी हड़तालें नहीं हुईं। इस औद्योगिक शांति का मुख्य कारण समय पर महँगाई के भत्ते में वृद्धि हो जाना है। बहुत-सी मिलों ने आरंभ से ही अधिलाभांश घोषित कर दिया क्योंकि युद्ध के प्रारंभिक काल से ही निर्वाह-व्यय में काफी वृद्धि हो चुकी थी। अहमदाबाद की मिलों ने भत्ता सबसे अधिक और आरंभ से ही दिया, परन्तु श्रमिक वर्ग के आर्थिक और सामाजिक कल्याण के लिये कोई विशेष कार्य नहीं किया गया। इसलिये मजदूरों के वेतन में जो कुछ कमी हुई उसका कोई लाभकारी प्रभाव श्रमिक वर्ग पर

नहीं पड़ा बढ़ी हुई। आय का बहुत कुछ अंश श्रमिकों ने असामाजिक कार्यों में नष्ट कर दिया, इसलिये उनके व्यय में चाहे वृद्धि हुई हो परन्तु उनके जीवन-स्तर में किसी प्रकार सुधार नहीं हुआ। विशेषज्ञों का अनुमान है कि युद्धकाल में भारतीय श्रमिक की कुशलता में भी ह्रास हुआ है। शिक्षा और सांस्कृतिक विकास के अभाव में वेतन-वृद्धि का एक ही प्रभाव हो सकता है—अधिक आय मनुष्य को शिथिल बना देती है और वास्तव में भारतीय श्रमिकों पर भी इसी प्रकार का प्रभाव पड़ा। मिलों में मजदूर लोग गैर हाजिर रहने लगे, काम की अवहेलना की जाने लगी और प्रबंध के प्रति अविश्वास की भावना अधिक बढ़ने लगी। इसका सारे कपड़ा उद्योग पर अहितकारी प्रभाव पड़ा।

युद्धोत्तरकाल की विकास योजना

१९४५ में भारत-सरकार ने कपड़े के उद्योग के विकास के लिये एक विशेष समिति नियुक्त की—"Panel on Cotton textile Industry"। इस समिति ने उद्योग की उत्पादन शक्ति ४०,८०,००० गज से बढ़ा कर ७२,००,००० गज तक बढ़ाने की सिफारिश की। इस समिति की मुख्य-मुख्य सिफारिशें निम्न प्रकार से थीं :—

समिति ने यह स्वीकार किया कि युद्धोत्तरकाल में उद्योग का विकास करना सिद्धांत की दृष्टि से वान्छनीय है, परन्तु युद्धोत्तरकाल के निकट भविष्य में मशीन और कलपुर्जों के प्राप्त करने में ऐसी कठिनाइयाँ होंगी जिनके कारण उद्योग का विकास नहीं हो सकेगा। इसलिये ७२,००,००० गज कपड़े का लक्ष्य न रख कर प्रति वर्ष १०,७०,००० गज कपड़ा बनाने का प्रयत्न करना चाहिये। समिति की इस सिफारिश को भारत सरकार ने स्वीकार कर लिया। यदि भारतवर्ष की जन-संख्या ३५ करोड़ मान ली जाय तो उपर्युक्त

वार्षिक उत्पादन वृद्धि के अनुसार प्रति वर्ष प्रति व्यक्ति १८ गज कपड़ा उपलब्ध हो सकता है। समिति ने अपनी सिफारिश में देश के प्रत्येक भाग के औद्योगिक विकास पर विशेष जोर दिया और इसी सिफारिश के आधार पर प्रादेशिकता के अनुसार मिलों के क्षेत्र चुने गये। भारत में बारीक कपड़े के उत्पादन को प्रोत्साहन देने की दृष्टि से समिति ने देशी लम्बे रेशे वाली कपास पर २ आना प्रति पौंड आयात कर घटा कर २ पैसा प्रति पौन्ड कर देने की सिफारिश की। विदेशों से मशीन और कलपुर्जे मँगाने के संबंध में समिति ने निम्न सिफारशें कीं—

(१) भारत सरकार को नई मशीनरी और पुरानी मशीनरी के सुधार इत्यादि के लिये मशीन के आयात के संबंध में पूरी-पूरी सुविधाएँ देनी चाहिये।

(२) विदेशों से पुरानी मशीनों या फिर से सुधारी मशीनों का आयात बन्द कर देना चाहिये।

(३) जहाँ पुरानी मशीन के स्थान पर नई मशीन का आयात कर लिया गया हो वहाँ पुरानी मशीन नष्ट कर देनी चाहिये।

समिति की अंतिम दो सिफारिशें भारत सरकार ने मंजूर नहीं की। क्योंकि देश की औद्योगिक अवस्था इतनी संकटकालीन है और विदेशी विनिमय की इतनी कमी है कि पुरानी मशीन एकाएक बेकार घोषित नहीं की जा सकती। पहली सिफारिश के संबंध में सरकार ने निर्णय किया कि नई मशीन डालर क्षेत्र वाले देशों से तभी मँगाई जाय जब कि वह स्टर्लिङ्ग क्षेत्रों के देशों से अधिक सस्ती और टिकाऊ हो।

उद्योग की वर्तमान कठिनाइयाँ

विभाजन का प्रभाव—युद्धकाल में जो कुछ उद्योग की कठिनाइयाँ

थीं, उनमें युद्धोत्तरकाल में किसी प्रकार से कमी नहीं हुई है। नई मशीनों को स्थापित करने या पुरानी मशीनों के टूट-फूट सुधारने के सारे कार्य प्रायः स्थगित पड़े हैं। इसी प्रकार उद्योग का आन्तरिक संगठन भी कोई विशेष प्रगति नहीं कर पाया है उद्योगपति और श्रमिक-वर्ग के सम्बन्धों में भी कोई विशेष परिवर्तन नहीं हुआ। वास्तव में युद्धोत्तरकाल में देश में कुछ ऐसी घटनाएँ घटी हैं जिनके कारण उद्योग की स्थिति सुधारने के बजाय बिगड़ी है। १५ अगस्त १९४७ में विभाजन हो जाने के पश्चात् उद्योग को बहुत बड़ी कठिनाई का सामना करना पड़ा। सिंध और पञ्जाब के कपास के क्षेत्र भारत की राजनैतिक सीमा से बाहर निकल गये। इन क्षेत्रों में अधिकतर लंबे रेशे की कपास की खेती होती थी। इसलिये ऐसी मिलों की स्थिति और भी खराब हो गई जो कि लंबे रेशे की रुई पर निर्भर करती थीं। विभाजन के पश्चात् भारत और पाकिस्तान के आर्थिक सम्बन्ध किसी भी प्रकार से मैत्री पूर्ण नहीं रहे हैं। इसलिये गत ४ वर्षों में पाकिस्तान से भारत को रुई बहुत कम मिल पाई। स्थिति को देखते हुये निकट भविष्य में भी पाकिस्तान से रुई प्राप्त करने की कोई आशा नहीं है। यदि किसी प्रकार पाकिस्तान और भारत का आर्थिक समझौता हो भी जाय, तो रुई के निर्यात पर पाकिस्तान बहुत ऊँचा कर लगा सकता है। जिस प्रकार पटसन प्राप्त करने में भारत को कठिनाई हुई है, सम्भवतः उससे कहीं अधिक कठिनाई उसे रुई प्राप्त करने में उठानी है।

स्वयं पाकिस्तान भी कपड़े के उद्योग में आत्मनिर्भर बनना चाहता है। एक कपड़े की मिल भावलपुर रियासत में और दूसरी करांची में प्रायः तैयार हो चुकी है। प्रतिवर्ष इन दोनों मिलों में इतना कपड़ा बन सकेगा कि पाकिस्तान की अन्य १२ मिलों के उत्पादन

को मिलाकर देश को कपड़े में आत्मनिर्भर बनाया जा सकेगा। जहाँ तक पाकिस्तान में भारतीय कपड़े की खपत का प्रश्न है, भविष्य में वह भी संदिग्ध प्रतीत होता है। जब तक पाकिस्तान कपड़े में आत्मनिर्भर नहीं हो जाता है, उपभोक्ताओं के हितों की दृष्टि से पाकिस्तान विदेशी कपड़े को बिना किसी रोक-टोक के आने देगा। भारत और पाकिस्तान के जैसे सम्बन्ध हैं उनको देखते हुये पाकिस्तान की सरकार भारतीय कपड़े पर किसी भी प्रकार की रियायत नहीं देगी। इसलिये कपड़े के व्यापार और रुई के आयात दोनों पर ही देश के विभाजन का बड़ा अहितकारी प्रभाव पड़ा है।

नये रेशों के द्वारा प्रतिस्पर्धा

गत १० वर्षों में रुई के रेशे के समान कुछ और ऐसे रेशों का अनुसंधान हुआ है जो रुई से प्रतिस्पर्धा कर सकते हैं। इस प्रकार के रेशों में विशेषकर रेयन (Rayon) और मायलॉन (Mylon) मुख्य प्रकार के रेशे हैं। इस प्रकार के रेशे मिश्रित पद्धति (Synthetic Process) से बनाये जाते हैं कि उनका कच्चा माल रुई के मुकाबले में सस्ता पड़ता है। उदाहरण के लिये रेयन का रेशा बहुत चमकदार होता है और एक तरल पदार्थ से वह तैयार किया जाता है। इसके तैयार करने में कोई अधिक समय नहीं लगता। गत ३५ वर्षों में रेयन उद्योग की इतनी अधिक उन्नति हुई है कि अमेरिका जैसे औद्योगिक देश में बारीक कपड़े के स्थान पर रेयन के कपड़े का प्रयोग होने लगा है। विशेषकर युद्धोत्तरकाल में रेयन उत्पादन बहुत अधिक बढ़ा है। विशेषज्ञों का अनुमान है कि यदि जर्मनी, इटली और जापान को युद्धपूर्व के समान उत्पादन की सुविधाएं दी जायँ तो सारे संसार का रेयन का उत्पादन बहुत अधिक बढ़ सकता है। अमेरिका में रुई के कपड़े की मिलों को धीरे-धीरे रेयन की मिलों में परिवर्तित किया जा रहा है। भारत में

भी अहमदाबाद और बम्बई की अनेक मिलें इसी दिशा में कदम बढ़ा रही हैं। कुछ वैज्ञानिकों का अनुमान है कि भारत में इस प्रकार के मिश्रित रेशे की उत्पत्ति का भविष्य और भी अधिक उज्ज्वल है। हिमालय की तराई में कुछ ऐसे पेड़ पाये जाते हैं जिनकी छाल से रेशा निकाला जा सकता, या उनकी लकड़ी से रेशा तैयार किया जा सकता है। यदि निकट भविष्य में इस क्षेत्र में जलविद्युत शक्ति और सस्ता श्रम प्राप्त हो गया तो इस उद्योग को बहुत अधिक प्रोत्साहन मिलेगा। कपड़े की कमी के कारण इसके लिये अनुकूल वातावरण भी इस समय देश में विद्यमान है। इसलिये मिश्रित रेशे की प्रतिस्पर्धा बारीक कपड़े के लिये सबसे बड़ा खतरा है। प्रगतिशील औद्योगिक देशों की स्थिति को देखते हुये यह अनुमान लगाया जा सकता है कि कुछ वर्षों में बारीक कपड़े के स्थान पर रेयन का प्रयोग होने लगेगा।

मशीन प्राप्त करने की कठिनाई

भारत में बड़े उद्योग-धंधे विकसित करने की अनेक योजनाएँ कार्यान्वित की जा सकती हैं। परन्तु हमारे देश में मशीन और कल पुरजे बनाने की कोई भी सुविधा नहीं है। इसलिए देश के औद्योगीकरण के लिए अधिकतर हमें विदेशी मशीनरी पर निर्भर रहना पड़ता है। इस निर्भरता के कारण हमारा औद्योगिक सङ्गठन बहुत ही कमजोर है। विदेशी यातायात बन्द होने पर तुरंत देश में कल-पुर्जों की कमी हो जाती है। द्वितीय महायुद्ध काल में प्रायः इसी प्रकार की स्थिति उत्पन्न हो गई है। इस समय भी कारखानों के लिए मशीन प्राप्त करना बड़ा कठिन कार्य बना हुआ है। इंग्लैंड अपने पुनर्निर्माण के कार्य में व्यस्त है। अमेरिका से मशीन खरीदने के लिए डालर की आवश्यकता होती है। इसलिए दोनों ही देशों में भारत के लिए मशीन और कल-पुर्जों की एक प्रकार से

कमी है। युद्धकाल में मशीन पर इतना अधिक दबाव पड़ा है कि उनमें से अधिकांश टूट-फूट गई हैं या घिस चुकी हैं। इस स्थिति के कारण भारतीय मिलों की उत्पादन शक्ति बहुत कुछ घट गई है। इंग्लैंड से जो मशीनें मँगाई जाती हैं, वैज्ञानिक दृष्टि से पिछड़ी हुई हैं, और अमरीकी मशीनों के लिए हमारे यहाँ कुशल श्रमिक और अनुकूल सङ्गठन नहीं हैं। युद्ध समाप्त होते ही इंडियन टेक्सटाइल बोर्ड और इंग्लैंड के टेक्सटाइल मशीनरी मेकर्स लिमिटेड दोनों में एक समझौता हुआ। इस समझौते के अनुसार भारत में कपड़े की मिलों के कल-पुरजे बनाने के लिए एक योजना तैयार की गई परन्तु अभी तक इस दिशा में कोई विशेष प्रगति नहीं हुई। राज्य की ओर से सब सुविधाएँ मिलने के उपरांत भी कपड़े की मिलें पुरानी पड़ गईं। यदि उनके स्थान पर नई मशीनें लगाई जाती हैं, तो बहुत बड़ी राशि में विदेशी विनिमय की आवश्यकता होगी। यदि उनकी मरम्मत की जाती है, तो पुराने मॉडल की मशीनों में नये आविष्कार के कल-पुरजे बैठाना बहुत मुश्किल है। कुछ मास पूर्व जापान से कपड़े मिल की मशीनरी के आयात की आशा बंधी थी, परन्तु जापान की अर्थ-व्यवस्था में अभी इतना स्थायित्व नहीं है कि, जिससे वह भारी मशीनरी विदेशों को निर्यात कर सके। इसलिये मशीनरी की समस्या निकट भविष्य में भी हल होने नहीं जा रही है।

नियंत्रणों का प्रभाव

सामान्य तौर से किसी भी वस्तु की कमी होने पर प्रत्येक देश में उस वस्तु पर अंकुश लगा दिया जाता है। पिछले १० वर्षों में देश में कपड़े की इतनी कमी हो गई कि राज्य को उस पर नियंत्रण लगाना पड़ा। इस नियंत्रण की नीति में अनेक बार परिवर्तन हुये। नियंत्रण की नीति में स्थिरता न होने के कारण कपड़े के

उद्योग, व्यापार, निर्यात और उपभोग पर बहुत खराब प्रभाव पड़ा है। समय-समय पर राज्य कपड़े की मात्रा और उत्पादन के प्रकार पर नियंत्रण लगाता रहता है। इसके कारण उद्योगपतियों की उत्पादन नीति में किसी प्रकार का स्थायित्व नहीं आने पाता। उत्पादन कार्यक्रम के सम्बन्ध में कोई पूर्वानुमान नहीं लगाया जा सकता। इसी प्रकार कपड़े के वितरण में भी गत १० वर्षों से राज्य हस्तक्षेप कर रहा है। इस हस्तक्षेप के कारण कपड़े के व्यापार की सामान्य वितरण व्यवस्था अव्यवस्थित हो गई है। मूल्य नियंत्रण और राज्यकीय वितरण व्यवस्था के कारण थोक व्यापारी और फुटकर व्यापारी न आपस में अपना सम्बन्ध स्थापित कर सकते हैं और न बाजार में ही उनको अपनी निकट भविष्य की स्थिति का ज्ञान रह सकता है। कपड़े के उपभोग में भी उपभोक्ता को पूर्ण स्वतन्त्रता नहीं है। राज्य की बदलती हुई वितरण नीति और व्यापारिक अस्थिरता के कारण उपभोक्ता को यह विश्वास नहीं होता कि उसे नियमित रूप से उसकी आवश्यकता के अनुसार कपड़ा मिल जायगा। यदि राज्य की गत दस वर्षों की वस्त्रनीति का विश्लेपण किया जाय तो चार बातें स्पष्ट प्रतीत होती हैं—

(अ) उत्पादक माल और किस्म के सम्बन्ध में पूर्वानुमान नहीं लगा सकता। कपड़े की माँग अधिक होते हुए भी कपड़े के उत्पादन में वह वृद्धि नहीं कर पाता क्योंकि उत्पादन के साधन प्राप्त करने में उसे अनेक कठिनाइयाँ उठानी पड़ती हैं।

(ब) कपड़े का व्यापार पूर्ण रूप से अस्तव्यस्त है। नियंत्रण की नीति के कारण वैयक्तिक व्यापार नष्ट हो चुका है। केवल समृद्धिशाली व्यापारी या चोर बाजार के व्यापारी के लिये कपड़े के व्यापार में स्थान रह गया है। व्यापार की अस्थिरता के कारण मध्यम प्रकार का कपड़े का व्यापारी जो कि वास्तव में कपड़े के व्यापार की रीढ़

था, अपने आपको असमर्थ पाता है। जिस कपड़े के व्यापार ने किसी समय स्वदेशी आन्दोलन के द्वारा जनमत को अपनी ओर कर लिया था, उसे साधारण जनता संदेह और अविश्वास की दृष्टि से देखती है।

(स) उपभोक्ता के लिये भी स्थिति संतोषजनक नहीं है। शहरों में कुछ हद तक उपभोक्ताओं को कपड़ा मिल जाता है—चाहे वह चोर बाजार से ही मिलता हो, परन्तु ग्रामीण क्षेत्रों में कपड़े की बहुत अधिक कमी है। ग्रामीण जनता, शहरों पर सबसे अधिक कपड़े के लिये निर्भर रहती थी। इसलिये कपड़े के अभाव में ग्रामीण जनता और शहरी जनता में और भी अधिक सम्बन्ध विच्छेद होता जा रहा है। आम जनता में कपड़े के संबंध में एक घबराहट सी रहती है, क्योंकि वह भविष्य की पूर्ति के संबंध में भरोसा नहीं कर सकती। एक ओर देश में कपड़े की कमी है परन्तु साथ ही कपड़े को रोककर या जोड़कर रखने की भी प्रवृत्ति बल पकड़ती जा रही है।

(ड) इन सबका व्यापार के सामाजिक पक्ष पर सबसे अधिक अहितकर प्रभाव पड़ा है। उत्पादक समय से लाभ उठाकर अनावश्यक लाभ कमाना चाहते हैं जिसे स्पष्ट रूप से शोषण कहा जा सकता है। व्यापारी राज्य की परिवर्तनशील नीतियों से लाभ उठा कर अधिक से अधिक नफा कमाना चाहते हैं। इसलिये कपड़े के व्यापार में सबसे असामाजिक कृत्य काला बाजार, चोरी और राजकीय नियमों का उल्लंघन तथा भ्रष्टाचार फैला हुआ है। इसके कारण शासन संबंधी अनेक कठिनाइयाँ उत्पन्न हो जाती हैं। राज्य, जनता, और व्यापारी वर्ग—तीनों, किसी न किसी रूप में इस स्थिति के लिये जिम्मेदार हैं। दुर्भाग्य से अपनी त्रुटियाँ न समझ कर प्रायः तीनों ही अब तक एक दूसरे पर लांछन लगाने में व्यस्त रहे हैं, इसलिये स्थिति में कोई सुधार नहीं हो पाता।

लोहे और स्पात का उद्योग

आधुनिक काल में लोहे और स्पात का बहुत अधिक महत्व है। बड़े पैमाने के उद्योग-धंधे बिना लोहे के नहीं चल सकते। बड़ी-बड़ी मशीनें, कल-पुरजे और औजार बनाने के लिए लोहे की आवश्यकता होती है। औद्योगिक उत्पादन बिना यंत्रों के बिलकुल ही असम्भव है, इसलिए लोहा और स्पात आधुनिक औद्योगिक व्यवस्था के आधार माने जाते हैं। कृषि में भी लोहे का कम महत्व नहीं है। आधुनिक काल में बड़े-बड़े कृषि यंत्रों का निर्माण बिना लोहे और स्पात के सम्भव नहीं। वास्तव में आधुनिक कृषि का इतना अधिक यंत्रीकरण हो गया है कि उसको भी दूसरे उद्योगों की तरह बड़ी-बड़ी मशीनों और कल-पुरजों की आवश्यकता होती है। इसलिए कृषि की लोहे के उद्योग पर काफी निर्भरता है। यातायात के लिए भी लोहे और स्पात की बहुत बड़ी मात्रा में आवश्यकता होती है, रेल यातायात में तो सबसे अधिक लोहे की आवश्यकता होती है। और इसी प्रकार सड़क यातायात, सामुद्रिक यातायाव और हवाई यातायात के लिए भी प्रायः सभी प्रकार के लोहे की आवश्यकता होती है। आधुनिक व्यापार में जो यातायात का महत्व है वह प्रायः स्वतः स्पष्ट है। इसलिए यातायात को व्यापार की जीवन-नाड़ी मानी गई है। यदि शांतिकाल की आवश्यकता को कुछ समय के लिए भुला भी दिया जाय तो भी देश में सुरक्षा संगठन के लिए लोहे और स्पात की बहुत अधिक आवश्यकता होती है। आधुनिक काल की प्रायः सभी सैनिक सामग्री में लोहे या स्पात के बिना काम नहीं चल सकता। जिस प्रकार किसी राष्ट्र का

जीवन और मरण सुरक्षा पर निर्भर करता है—उसी प्रकार सुरक्षा के सारे प्रवन्ध लोहे और स्पात पर निर्भर करते हैं। इस उद्योग की युद्धकालीन और शान्तिकालीन महत्ता के कारण वर्तमान युग को लोहे का युग कहा गया है।

उद्योग की प्राचीनता

भारतवर्ष में लोहे का उद्योग सभ्यता के आदिकाल से ही चला आया है। ऐतिहासिक दृष्टि से लोहे का उद्योग उतना ही प्राचीन है जितनी कि भारत की प्राचीन संस्कृति। गत वर्षों में ऐतिहासिक काल के पूर्व के जीवन के सम्बन्ध में जो अन्वेषण हुये हैं उनसे यह बात स्पष्ट सिद्ध हो गई है कि भारत में आर्य जाति के आने के पहले ही यहाँ के मूल निवासी लोहे और उससे बनाई हुई वस्तुओं का प्रयोग करते थे। वास्तव में आर्य और असुर लोगों में जो युद्ध हुआ उसमें उस समय भी लोहे का प्रयोग होता था। प्रचलित दंत कथाओं में या धार्मिक कथाओं में असुर शब्द का अर्थ लुहार से भी लगाया जाता है। हिंदू युग के प्रायः प्रत्येक धार्मिक या सामाजिक ग्रंथों में अनेक स्थानों पर लोहे के विभिन्न प्रयोगों की चर्चा है। यद्यपि आधुनिक काल को लोहे का युग माना जाता है, परन्तु प्राचीन युग के मनुष्य के जीवन में भी लोहे का महत्व कम नहीं था। इस धातु का उपयोग उद्योग-धंधों में, धार्मिक क्रियाओं में, सामाजिक जीवन में, आयुर्वेद में और भूतप्रेत की विद्या में भी होता था। आज भी देश में ऐसी आदम जातियाँ हैं, जिनके समस्त जीवन में, लोहे का उतना ही महत्वपूर्ण स्थान है, जितना कि बर्मिन्घम या किसी अन्य औद्योगिक केन्द्र में हो सकता है।

ब्रिटिश शासन स्थापित होने के समय लौह-उद्योग देश भर में

फैला हुआ था। आरम्भिक काल के ब्रिटिश शासकों ने अपने स्मरण पत्रों में अनेक स्थानों पर जिक्र किया है कि भारत में कोई भी ऐसा जिला नहीं है जहाँ कि लुहार काम न करते हों। छोटे-छोटे स्थानों पर लुहार इतने परिश्रम से लोहा तैयार करते हुए देखे गये, जो कि ब्रिटेन के इंजीनियरों के अनुमान के बाहर की बात है। स्वयं मध्यप्रदेश में लगभग ५० वर्ष पूर्व दुर्ग के जिले में ही लोहे गलाने की लगभग ७० भट्टियाँ काम करती थीं।

आधुनिक काल का लोहे का क्षेत्र निस्संदेह जमशेद जी टाटा ने ढूँढ निकाला है। परन्तु मनुष्य जाति के इतिहास-वेत्ताओं ने इस बात को एकमत से स्वीकार किया है कि इसी क्षेत्र में आरंभ से ही लोहे का काम करने वाले व्यक्ति बसे हुये हैं। इन ऐतिहासिक तथ्यों से प्राचीन लौह-उद्योग की व्यापकता सिद्ध होती है। देश में प्राचीन काल से ही उत्तम प्रकार का स्पात बनाया जाता रहा है। विदेशों में धातु शोधन की कला अभी उस पराकाष्ठा तक नहीं पहुँच पाई है जिस पर हमारे यहाँ यह कला लगातार आज से १००० वर्ष पूर्व पहुँच चुकी है। उदाहरण के लिए दिल्ली में कुतुब मीनार के पास का लौह-स्तम्भ आधुनिक काल के इंजीनियरों को एक प्रकार से चुनौती है। परन्तु इस उद्योग के ऐतिहासिक काल और आधुनिक विकास के बीच में लगभग ५० वर्ष का ऐसा समय बीता जिसके कारण प्राचीन लौह-उद्योग और आधुनिक काल के लौह-उद्योग में कोई सम्बन्ध नहीं रहा, जबकि विदेशों में लोहे और स्पात का उद्योग औद्योगिक क्रांति से पहले ही हो चुका था। हमारे देश में उसका आरम्भ बहुत देर से हुआ। दुर्भाग्य से भारत में वाष्प का प्रयोग सबसे पहले कपड़े के उद्योग में हुआ, जबकि इंग्लैंड में औद्योगिक क्रान्ति का प्रादुर्भाव लोहे और स्पात के उद्योग से हुआ।

आधुनिक लोह-उद्योग का आरंभ

आधुनिक ढंग का लोहे का उद्योग सबसे पहिले १८३० में आरंभ हुआ। मद्रास सिविल सर्विस के एक कार्यकर्ता श्री जोशिया मार्शल ने अर्काट के जिले में लोहे के शोधन के कार्य का एकाधिकार प्राप्त किया। ईस्ट इंडिया कम्पनी ने कुछ आर्थिक सहायता भी प्रदान की, परन्तु श्री मार्शल के प्रयत्न अधिक सफल नहीं हुये। १८३३ में एक नई कम्पनी स्थापित की गई जिसे ईस्ट इंडिया कंपनी की तरफ से जोवा स्कोटा और अर्काट के जिले लोहे के लिये एकाधिकार प्राप्त थे। परन्तु इस कंपनी का कार्य भी अधिक सफल नहीं हुआ। १८५३ में ईस्ट इंडिया कंपनी की ओर से एक स्वतंत्र लोहे के उद्योग के लिये कंपनी स्थापित की गई। इस कंपनी की ओर से मलाबार के जिले में भद्रावती के नजदीक लोहे की नई खानें ढूँढी गईं। परन्तु इस कंपनी का कार्य भी आर्थिक दृष्टि से सफल नहीं हुआ। १८६० तक प्रायः सारे लोहे के उद्योग बन्द हो गये और कुछ समय के लिए विशेषज्ञों ने इस संबंध में बिलकुल आशा छोड़ दी। १८७४ में बंगाल में "बङ्गाल आयरन एण्ड स्टील कंपनी" आरम्भ की गई और १८८९ में इस कंपनी ने लोहा बनाना आरम्भ किया। आर्थिक दृष्टि से यह कंपनी सबसे पहले सफलता प्राप्त कर पाई। परन्तु इस कंपनी का कार्य भी कुछ आगे नहीं बढ़ पाया। भारत के लोहे के सम्बन्ध में सबसे विधायक कदम श्री जे० एन० टाटा ने उठाया। १९०१ से १९०२ तक श्री टाटा ने एक अँगरेजी इंजीनियर श्री वीड (Weed) की सहायता से लोहे की खानों का परीक्षण किया। इस प्रयत्न के फलस्वरूप टाटा ने लोहे की खानों की एक शृङ्खला ढूँढ निकाली। सबसे पहले साक्ची (Sakchi) स्थान पर टाटा ने लोहे का कारखाना स्थापित किया। यह क्षेत्र लोहे के उद्योग की दृष्टि से बहुत अनुकूल सिद्ध

हुआ। इस क्षेत्र के समीप, चूना बड़ी सरलता से मिल जाता है। कोयले की खानें भी नजदीक हैं। सड़क और रेल यातायात का लाभ बड़ी सरलता से और सस्ते दामों पर उपलब्ध हो सकता है। कलकत्ते का बन्दरगाह यहाँ से बहुत दूर नहीं है, इसलिये आयात-निर्यात की सुविधाएँ भी उद्योग को प्राप्त हैं। परन्तु उद्योग की सफलता का मुख्य कारण भौगोलिक या आर्थिक अनुकूलता ही नहीं, श्री टाटा के वैधानिक प्रयत्न और साहस हैं। १९११ में कारखाना बनकर तैयार हो गया। एक वर्ष बाद लोहा बनना आरंभ हुआ और १९१३ में स्पात प्रथम बार भारत में निर्माण किया गया। उद्योग स्थापित हुये अधिक समय नहीं हुआ था कि प्रथम महायुद्ध आरंभ हो गया। इस युद्ध के कारण लोहे के उद्योग को तीव्र और तात्कालिक प्रोत्साहन मिला। विदेशों से कच्चे लोहे या लोहे की वस्तुओं का आयात बहुत कठिन हो गया। भारत में सैनिक तैयारियों के कारण लोहे की बहुत अधिक आवश्यकता बढ़ी। यद्यपि आरंभ में ब्रिटिश सरकार इस उद्योग के विकास के पक्ष में नहीं थी, परन्तु सैनिक परिस्थिति से मजबूर होने के कारण भारत सरकार को इस उद्योग के विकास के लिये सुविधाएँ देनी पड़ीं। युद्धकाल में टाटा के कारखानें में रेलवे लाइन, बोल्ट, फिशप्लेट, रेल के डिब्बे, छोटे औजार, खीलें, तार, टीन की चद्दरें और अन्य सैनिक सामग्री तैयार की जाने लगी। इसी समय १९१८ में इंडियन आयरन एण्ड स्टील कंपनी स्थापित की गई, जिसमें लोहे की धातु और कोयले से सहायक पदार्थ जैसे कोलतार, अमोनिया, सलफ्यूरिक ऐसिड इत्यादि बनाये जाने लगे। दक्षिण में भी लोहे के उद्योग का विकास प्रथम महायुद्ध के पश्चात् आरंभ हुआ। मैसूर रियासत में विशेषज्ञों की सहायता से लोहे की खानें ढूँढ निकाली गईं। मैसूर राज्य की ओर से "मैसूर आयरन वर्क्स" भद्रावती के समीप आरंभ किया गया। इस कार-

खाने में १६२३ में लोहा बनाने का कार्य आरम्भ हुआ। इस कारखाने की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इसमें कोयले के स्थान पर लकड़ी के कोयले का प्रयोग होता है। भद्रावती के पास सघन वन स्थित होने के कारण लकड़ी का कोयला सस्ता मिल जाता है, इसलिये लोहे के उत्पादन व्यय में कुछ कमी की जा सकती है। परंतु इस कारखाने का औद्योगिक संगठन और वैज्ञानिक स्तर अभी इतना ऊँचा नहीं है। स्पात निर्माण का कार्य यहाँ पर शायद निकट भविष्य में आरंभ न हो सके। सबसे अधिक प्रगति जमशेदपुर के कारखानों ने की है। यहाँ की लोहे की भट्टियाँ संसार की बड़ी भट्टियों का मुकाबला कर सकती हैं और ब्रिटिश राष्ट्रमंडल में इनका सबसे प्रथम स्थान है।

उद्योग का संरक्षण

लोहे के उद्योग का दूसरा काल राजकीय संरक्षण से आरंभ होता है। सबसे पहले इसी उद्योग को राज्य की ओर से संरक्षण प्राप्त हुआ। इस उद्योग को संरक्षण देने के पहले टेरिफ बोर्ड ने इस उद्योग की जाँच की। बोर्ड ने अपने निर्णय में यह निश्चित मत दिया कि लोहे के उद्योग में तभी विकास हो सकता है जब कि उसे संरक्षण दिया जाय। संरक्षण की प्रायः सारी शर्तें इस उद्योग में पूरी होती थीं। भारतवर्ष में लोहे की बहुत सी खानें हैं, इसलिये नियमित रूप से पर्याप्त मात्रा में कच्चा लोहा मिलता रहेगा। दूसरे भारत में विदेशों से लोहे और स्पात का इतना अधिक आयात होता है कि बिना संरक्षण दिये इस उद्योग की रक्षा नहीं हो सकती। तीसरे इस उद्योग को संरक्षण देने से उपभोक्ताओं को कोई विशेष कठिनाई नहीं होगी, क्योंकि विदेशों से आयात किया हुआ माल काफी सस्ती दर पर भारत में आ रहा था, और टाटा के कारखानों

में उत्पादन-व्यय इतना अधिक था कि उद्योग को बिना संरक्षण दिये हुये विदेशी माल की प्रतिस्पर्धा करने के योग्य नहीं बनाया जा सकता। इसलिये बोर्ड ने उद्योग को पर्याप्त संरक्षण देने की सिफारिश की। संरक्षण का आधार विदेशी माल की दर और भारतीय माल के उचित विक्रय दर का अंतर था। बोर्ड ने १६० रु० प्रति टन भारतीय माल को उचित विक्रय दर ठहराई और इसके अनुसार विभिन्न प्रकार की लोहे की वस्तुओं पर आयात कर की विभिन्न दर लगाई। लोहे का ऐसा माल जिसका कि भारत में उत्पादन नहीं होता है, आयात-कर से वंचित रखा गया। बोर्ड ने संरक्षण की अवधि ३ वर्ष रखी, क्योंकि अगले ३ वर्षों में संसार के मूल्य-स्तर स्थिर होने की सम्भावना थी और साथ ही उत्पादन व्यय में भी कमी होने की संभावना थी। संरक्षण देने के समय सरकार ने यह शर्त लगायी कि टाटा कम्पनी, रेलवे को रेलें और फिशप्लेट एक निश्चित दर पर संरक्षण के काल में देती रहेंगी। इसके अनुसार भारत सरकार ने पहिले वर्ष में ३२ रु० प्रति टन दूसरे वर्ष में २६ रु० प्रति टन और तीसरे वर्ष में २० रु० प्रति टन आर्थिक सहायता देने का निश्चय किया। संरक्षण के लिये एक अधिनियम स्वीकृत किया गया जिसे "स्टील इन्डस्ट्री प्रोटेक्शन एक्ट आफ १६२४" कहते हैं। अधिनियम के स्वीकृत होने के ३ माह पश्चात् ही विदेशी माल के मूल्य में अनुमानित स्तर से नीचे कमी हो गई और इस लिये टाटा कंपनी ने पूरक संरक्षण (Supplementary Protection) के लिये राज्य से प्रार्थना की। टेरिफ बोर्ड ने भी इस बात का अनुभव किया कि विदेशों में लोहे के माल की दर गिर जाने से १६२४ के अधिनियम के संरक्षण के अनुसार टाटा कंपनी को कोई विशेष लाभ नहीं होगा। इसलिये बोर्ड ने आयात कर बढ़ाने की सिफारिश की। परन्तु भारत सरकार ने इस सिफारिश

को मंजूर नहीं किया। संरक्षण के स्थान पर सरकार ने उद्योग को अधिक आर्थिक सहायता देने का निश्चय किया। इस नये निर्णय के अनुसार भारत में बने हुये स्पात के ८०% भाग पर सरकार २० रु० प्रति टन आर्थिक सहायता देती थी।

जून १६२५ में तीसरी बार उद्योग की स्थिति की जाँच की गई। स्पात के मूल्यों और उचित विक्रय दर को ध्यान में रखते हुये टेरिफ बोर्ड ने सिफारिश की कि आगामी १८ महीनों तक सरकार को १८ रु० प्रति टन आर्थिक सहायता देनी चाहिये। परन्तु आर्थिक सहायता की राशि १६ लाख रु० से किसी भी अवस्था में अधिक न हो। सरकार ने यह सिफारिश मूल रूप से मंजूर की, परन्तु सहायता की राशि घटा दी। अब सरकार केवल १२ रु० प्रति टन सहायता देती थी और सकल सहायता की राशि १३ लाख रु० से अधिक नहीं हो सकती थी। १६२४ की धारा समाप्त होने पर उद्योग की जाँच करने के लिये टेरिफ बोर्ड ने फिर अपना कार्य आरंभ किया। विदेशों से आने वाले माल में रेल की लाइनें, फिश-प्लेट, और लोहे की चद्दरें अधिकतर इंग्लैंड से आती थीं। लोहे के स्लीपर अधिकतर योरोपीय देशों से आते थे और मकान बनाने के सामान प्रायः दोनों ही देशों से आते थे। ब्रिटेन से आने वाले माल का मूल्य योरोपीय देशों के माल के मूल्य की अपेक्षा अधिक स्थायी था। इसलिये टेरिफ बोर्ड ने ब्रिटिश माल पर आधार भूत दर (Basic-duty) निश्चित की। परन्तु योरोपीय देशों से आने वाले माल पर परिवर्तनशील दर निश्चित की। संरक्षण की अवधि ७ वर्ष के लिये रखी गई। १६२७-२८ से लेकर १६३३-३४ तक। स्टील इन्डस्ट्री प्रोटेक्शन ऐक्ट ऑफ १६२७ के अंतर्गत उपर्युक्त दरों का आयोजन किया गया। संरक्षण की नई दरों के कारण भारत के औद्योगिक क्षेत्रों में असंतोष फैला।

भारतीय उद्योगपतियों के मतानुसार ब्रिटिश और योरोपीय देशों के माल में जो पक्षपात किया गया उसका मुख्य उद्देश्य भारतीय उद्योग को संरक्षण देना नहीं परन्तु भारत में ब्रिटिश माल की खपत को बढ़ाना था। इसलिये उद्योग को संरक्षण देकर भी ब्रिटिश सरकार, अनुकूल जनमत नहीं बना सकी। इसके अतिरिक्त नये अधिनियम में संरक्षण की दर घटाने-बढ़ाने का अधिकार शासन को दिया गया। इससे ब्रिटिश सरकार अपनी इच्छानुसार योरोपीय देशों के माल पर आयात कर घटा-बढ़ा सकती थी और वास्तव में आगे चल कर ऐसा हुआ भी। १६३१ में लोहे और स्पात के आयात-कर पर २५ प्रतिशत अतिरिक्त कर (Surcharge) लगाया गया। उद्योग को संरक्षण देने और इसकी अवधि निश्चित करने का प्रश्न १६३४ में टैरिफ बोर्ड के सामने फिर आया। टैरिफ बोर्ड ने यह अनुभव किया कि उद्योग ने संरक्षण के फलस्वरूप अब तक काफी प्रगति कर ली है। विदेशी माल की कीमत और भारतीय माल की उचित विक्रय दर की तुलना से यह स्पष्ट सिद्ध होता था कि उद्योग को कोई विशेष संरक्षण देने की आवश्यकता नहीं रही। विशेष कर ब्रिटिश माल से भारतीय माल को संरक्षण देने की कोई आवश्यकता नहीं थी। योरोपीय देशों के माल में भी प्रायः इसी प्रकार की स्थिति थी, इसलिये टैरिफ बोर्ड ने रेल, फिशप्लेट और स्लीपरों पर किसी भी प्रकार का संरक्षण देने के लिये सिफारिश नहीं की। इमारत बनाने में काम का लोहा या चद्दरों पर संरक्षण देने की बोर्ड ने सिफारिश की। ४३ रु० प्रति टन ब्रिटिश माल के आयात पर और २५ रु० प्रति टन योरोपीय देशों से आने वाले माल पर आर्थिक सहायता देने की सिफारिश की। परन्तु बोर्ड की अंतिम सिफारिश यही थी कि स्पात के उद्योग के संरक्षण को समय के लिये और चालू रखा जाय।

उद्योग-धंधे भी आरम्भ किये गये। जिनमें लोहे के फालतू सामान के द्वारा कुछ चीजें बनाई जाती हैं।

संरक्षण के पश्चात् "मैसूर आयरन स्टील वर्क्स" में भी कुछ प्रसार हुआ है। बिजली की भट्टियाँ स्थापित करने से इसकी उत्पादन शक्ति लगभग ५० हजार टन हो गई है। इस कारखाने में लकड़ी के कोयला का इस्तेमाल होता है। ईशापुर में एक सरकारी शस्त्र निर्माण करने की फैक्टरी स्थापित की गई। इस फैक्टरी में सैनिक शस्त्रों के निर्माण के लिये उच्चकोटि का स्पात बनाया जाता है। दक्षिण में कुमारधूबी (Kumardhubi) वर्क्स में भी ऊँचे प्रकार का स्पात बनाया जाता है। इन तीन स्पात के कारखानों के अतिरिक्त ५० और ऐसे कारखाने भी बने हैं जिनमें स्पात या लोहे के अन्य सामान बनते हैं।

युद्ध आरंभ होने के समय ३ कारखानों ने बिजली की भट्टियों की सहायता से पुराने लोहे से स्पात बनाना आरम्भ कर दिया था। इसके पश्चात इसी प्रकार के ६ और कारखाने स्थापित हुये जो अच्छे प्रकार का स्पात बनाते हैं। कुछ ऐसे कारखाने भी स्थापित हुये हैं जो अन्य कारखानों से लोहा या स्पात लेकर इञ्जीनियरिंग की उपयोग की अनेक वस्तुयें बनाते हैं।

१९२२ में टिन प्लेट कंपनी ऑफ इंडिया स्थापित हुई। इसमें टाटा कंपनी से लोहा या स्पात लेकर चद्दरें तैयार की जाती हैं। इण्डियन स्टील एण्ड वायर प्रोडक्ट्स कंपनी स्पात के तार तैयार करती है। इसी प्रकार की अन्य कंपनियाँ स्पात की ढलाई का काम करती हैं। जैसे—बर्न एण्ड कंपनी, कुमारधूबी इञ्जीनियरिंग वर्क्स, हुकुमचन्द स्टील कम्पनी या भारतीय इलेक्ट्रिक वर्क्स।

इस्पात के उद्योग के प्रसार के फलस्वरूप इस समय देश में लगभग ७ लाख ५० हजार टन स्पात प्रति वर्ष बनाया जाता है।

विदेशों से भी लगभग ३ लाख टन स्पात का आयात होता है। इस प्रकार प्रति वर्ष भारत में लगभग १० लाख टन स्पात का उपयोग होता है। परन्तु इतना प्रसार होने पर और स्पात का उपयोग होने पर भी संसार के स्पात निर्माण करने वाले देशों में भारत का स्थान बहुत नीचा है।

देश	स्पात का उत्पादन
संयुक्त राष्ट्र अमेरिका	५·२५ करोड़ टन
जर्मनी	३ करोड़ "
रूस	२ करोड़ "
इंग्लैंड	१·५ करोड़ "
भारतवर्ष	७ लाख "

ऊपर के आँकड़ों से स्पष्ट है कि देश का क्षेत्र और जनसंख्या को देखते हुए भारत का स्पात का उद्योग बहुत अविकसित अवस्था में है। यदि पूरे उत्पादन का मूल्य लगाया जाय तो वह २० करोड़ रु० के लगभग होगा। पिछले कुछ वर्षों से भारत में लोहे और स्पात का उद्योग स्थिर हो गया है। विदेशी स्पात को मिलाकर भी देश में औसतन १० लाख टन प्रति वर्ष स्पात का उपयोग होता है। दूसरे देशों में स्पात के उत्पादन और उपयोग दोनों में ही बहुत तेजी के साथ वृद्धि हुई है।

युद्धकालीन प्रगति

युद्ध के समय में स्पात का बहुत अधिक महत्व है। युद्ध के हथियार प्रायः सभी स्पात के बनते हैं। सेनाओं के अन्य शस्त्रों के लिये भी स्पात और लोहे की आवश्यकता होती है। युद्ध की सामग्री और सेना के एक स्थान से दूसरे स्थान को ले जाने के लिये याता-यात साधनों की आवश्यकता होती है जिनके निर्माण में लोहे

और स्पात का बहुत अधिक उपयोग होता है। द्वितीय महायुद्ध के प्रथम वर्ष में लोहे और स्पात की इतनी अधिक आवश्यकता नहीं बढ़ी। १९४० के अंत तक लगभग ३० हजार टन स्पात का उपयोग सैनिक कार्यों के लिये हुआ। परन्तु १९४० के पश्चात सैनिक संगठन के लिये लोहे और स्पात की माँग बढ़ी, जिसकी पूर्ति इस देश में नहीं हो सकती थी। जब तक भूमध्यसागर का मार्ग सुरक्षित था तब तक विदेशों से आयात हो सकता था। परन्तु फ्रांस के हार जाने और इटली के युद्ध में शामिल हो जाने पर आयात में बहुत कमी हो गई। इसलिये देश में ही अधिक मात्रा में लोहे और स्पात निर्माण करने की आवश्यकता पड़ी। विशेषकर इस प्रकार के लोहे और स्पात की अधिक माँग बढ़ी जिसका सैनिक शस्त्र इत्यादि बनाने में उपयोग होता है। भारत के प्रायः सभी कारखानों के उपरांत भी १९४० में सारे राष्ट्र की ७५% माँग की पूर्ति की जा सकी। देश में लोहे और स्पात की कमी पड़ गई, इसलिये सरकार ने "आयरन ऐन्ड स्टील कन्ट्रोल आर्डर" के अंतर्गत लोहे और स्पात के वितरण पर नियंत्रण लगाया। सारी उपलब्ध मात्रा का ७०% भाग सैनिक सामग्री के लिये निर्धारित किया गया और बची हुई ३०% मात्रा का आधा-आधा भाग रेलवे और जनता की आवश्यकता के लिये निश्चित किया गया। यद्यपि देश में केवल ७५% माँग की पूर्ति की जा रही थी, परन्तु फिर भी उत्पादन में काफी वृद्धि हुई। उद्योग में कुछ ऐसे सुधार और विकास इस बीच में हुये जिससे न केवल उत्पादन में वृद्धि हुई, परन्तु लोहे की किस्म में काफी उन्नति हुई।

प्रथम महायुद्ध में केवल भारत में बनी हुई रेलवे-लाइन, सेना और सैनिक सामग्री स्थानांतरित करने में काम आई। परन्तु द्वितीय महायुद्ध में केवल रेल के इंजिन को छोड़कर सारे सामान देश में ही बनने लगे। देश में ऐसे स्पात का भी निर्माण होने लगा जिसका

उपयोग बन्दूक, यन्त्र और सैनिकों की रक्षा से संबंधित अन्य शस्त्र बनाने में होता है। टाटा के कारखाने में रेलवे लाइन के बनाने की पद्धति में काफी प्रगति हुई है। इस कार्य में "टाटा रिसर्च एन्ड कन्ट्रोल लेबोरेटरी" ने काफी सहायता की है। अब तक देश में ऐसे लोहे और स्पात की बहुत उत्पत्ति होती थी, जिसका उपयोग रेलवे के विभिन्न कल-पुर्जे बनाने में होता है। परन्तु इस संस्था की सहायता से ऐसे अनेक अनुसंधान न किये गये जिनके कारण भारत में रेल से संबंधित प्रायः सभी कल-पुर्जे बनने लगे हैं। विशेषकर रेलवे की लाइन किसी भी देश से मुकाबला कर सकती है। युद्धकाल में स्पात का शोधन भी इतनी अच्छी प्रकार से होने लगा कि विदेशों से स्पात मंगाने की आवश्यकता नहीं रही। युद्ध आरंभ होने से पहले ईशापुर का सरकारी सैनिक कारखाना एक विशेष प्रकार का स्पात (Hematite Pig Steel Iron) ब्रिटेन से मंगाता था। इससे (Acid Steel) तैयार की जाती थी। परन्तु युद्धकाल में इसका आयात बन्द कर दिया गया और भारत में ही शोधन में इतनी उन्नति की गई कि सैनिक उपयोग का स्पात देश में ही बनने लगा। कुछ विशेष उत्पादन क्रियाओं के द्वारा मिश्रित स्पात भी बनने लगा है, जिसका उपयोग सैनिक कार्यों में और इंजीनियरिंग में अधिक होता है। इस प्रकार का स्पात युद्धकालीन प्रगति में विशेष महत्व रखता है।

स्पात का एक और प्रकार (Armour Plating) अब तक भारत में नहीं बनता था। इस स्पात का उपयोग सुरक्षा कार्य में अधिक होता है। यह भी युद्धकाल से भारत में बनने लगा है। मिश्रित स्पात का उत्पादन १९४१ में केवल ५०० टन प्रति वर्ष था। एक ही वर्ष के अंदर इसका उत्पादन चौगुना हो गया। मिश्रित स्पात का उपयोग हवाई जहाज और जलजहाज के निर्माण

और सुधार में होता है। अब तक इसका आयात विदेशों से होता था। युद्धकाल में टाटा के कारखाने में इस प्रकार के स्पात का भी शोधन आरंभ हुआ।

ऊपर के विवरण से स्पष्ट है कि युद्धकालीन परिस्थिति के कारण भारतीय लोहे और स्पात उद्योग की बहुत अधिक प्रगति हुई है। सकल उत्पादन में और स्पात के प्रकार में भी आशा से अधिक उन्नति हुई है। १९३८ में लगभग १७½ लाख टन लोहा भारत में बनता था। १९४३ में यह २० लाख टन बनाया गया। भारत से कच्चे लोहे का निर्यात युद्धकाल में होता था। लगभग ५ लाख टन कच्चा लोहा हमारे देश से बाहर जाता था। १९४२ और ४३ में यह घटकर २ लाख ४० हजार टन रह गया। पक्के स्पात का उत्पादन १९३८ और ३९ में ७ लाख ५० हजार टन था। १९४३ और ४४ में यह बढ़कर १२½ टन लाख हो गया। इसके उत्पादन में और भी अधिक वृद्धि हुई है। भविष्य में भी वृद्धि हो सकती है यद्यपि उद्योग को यातायात की सुविधाएँ और कोयला प्राप्त करने की कठिनाई है। यदि इन दोनों कठिनाइयों को दूर कर दिया जाय तो उद्योग के पास अब इतनी पूँजी, यांत्रिक साधन और वैज्ञानिक अनुभव है कि थोड़े समय में ही उसकी बहुत अधिक उन्नति हो सकती है।

उद्योग का भविष्य

युद्धकाल में उद्योग ने प्रत्येक प्रकार की प्रगति की है। सफल उत्पादन में वृद्धि के अतिरिक्त वैज्ञानिक और अनुसंधान की दृष्टि से भी युद्धकाल के इतिहास में महत्वपूर्ण रहा है। युद्धकालीन आवश्यकता की पूर्ति के अतिरिक्त कुछ ऐसी वस्तुओं के निर्माण के लिये भी देश में अब सुविधाएँ उपलब्ध हैं, जो कि पहले नहीं

बनती थीं। उदाहरणार्थ—मशीनों के कल-पुर्जे, जहाज बनाने का सामान, मोटर बनाने का सामान आदि अब भारत में उपलब्ध हैं। परन्तु अभी देश स्पात में पूर्णतया आत्मनिर्भर नहीं हुआ है। अच्छे प्रकार के स्पात का आयात अभी विदेशों से करना पड़ता है। ब्रिटिश या अमरीकी स्पात के अतिरिक्त अभी देश में उतना अच्छा और मजबूत स्पात नहीं बनता। परन्तु फिर भी उद्योग की यही प्रगति चलती रही तो थोड़े समय में ही भारत संसार के स्पात के उद्योग में अपना स्थान बना लेगा। युद्धकाल में स्पात केवल एक कारखाने द्वारा बनाया जाता था। इससे उद्योग की प्रगति तेजी के साथ नहीं हो पाती थी। स्टील कारपोरेशन आफ बङ्गाल में स्थापित होने से यह दोष दूर हो गया है। कुछ कारखानों में बिजली की भट्टियाँ स्थापित की जा चुकी हैं, जिनसे अच्छे प्रकार का स्पात बनाने में सहायता मिलती है। इस प्रकार उत्पादन की दृष्टि से और किस्म की दृष्टि से उद्योग ने अत्यंत संतोषजनक प्रगति की है।

युद्धकाल में कुछ लोगों का विचार था कि उद्योग की युद्धकालीन उत्पादन शक्ति का शान्तिकालीन स्थिति में पूर्ण उपयोग न होगा। परन्तु युद्ध समाप्त होते ही स्पात की माँग उत्पादन से अधिक हो गई। लोहे और स्पात की कमी की स्थिति को देखते हुये १९४५ में भारत सरकार ने एक विशेष औद्योगिक समिति (Iron and Steel Panel) उद्योग के भविष्य में प्रसार के संबंध में नियुक्त की। समिति के मतानुसार भारत में स्पात और लोहे की माँग भविष्य में बढ़ेगी। युद्धकाल में भारतीय रेलों में काफी टूट-फूट हुई है। रेल के डिब्बे, इंजिन लाइनें इत्यादि पुराने पड़ गये हैं। इन सबके सुधार के लिये या नये प्रकार के कल-पुर्जे लगाने के लिये लोहे की आवश्यकता होगी। देश में अनेक बहुमुखी नदी-विकास

योजनाएँ कार्यान्वित की जा रही हैं। अनेक स्थानों पर बिजली घर निर्माण किये जावेंगे। बिजली के तार, कल-पुर्जे सबके लिये लोहे की आवश्यकता होगी। इसी प्रकार सड़क निर्माण का कार्य प्राय: सभी प्रान्तों में चालू है। इसके लिये भी लोहे की आवश्यकता होती रहती है। देश में जहाज बनाने का कार्य, मोटर और हवाई जहाज का उद्योग आदि धीरे-धीरे बढ़ रहे हैं। इनके लिये लोहा और स्पात बहुत बड़ी मात्रा में चाहिये। शहरों की आबादी निरंतर बढ़ती जा रही है। और नये प्रकार के मकानों में लोहे के सामान की बहुत आवश्यकता होती है। इससे साधारण जनता की भी लोहे की माँग बढ़ेगी। देश में सैनिक पुनर्संगठन बड़ी तेजी के साथ हो रहा है। इसके लिये अच्छे प्रकार के लोहे और स्पात की आवश्यकता स्पष्ट है। ऊपर की सब आवश्यकताओं को ध्यान में रखते हुये यह निश्चित अनुमान लगाया जा सकता है कि भारत में उत्पादन कितना भी बढ़े माँग भी बढ़ती जायगी। इसे ध्यान में रखकर विशेषज्ञ समिति ने प्रति वर्ष ३० लाख टन स्पात बनाने की सिफा-रिश की है। इतना अधिक उत्पादन करने के लिये समिति के अनु-सार देश में स्पात के दो और कारखाने स्थापित करना आवश्यक है जिनका प्रति वर्ष उत्पादन ५ लाख टन होना चाहिये।

इसमें संदेह नहीं कि बहुत समय से लोहे और स्पात के मूल्य ऊँचे हैं। परन्तु यह स्थिति बहुत अधिक समय तक नहीं रह सकती। अमरीका और योरोप में लोहे और स्पात का उत्पादन बहुत तेजी से बढ़ रहा है। थोड़े ही समय में उनका उत्पादन उनकी उपभोग्य आवश्यकता से अधिक हो जायगा और बहुत संभव है कि एक ऐसी स्थिति उत्पन्न हो जाय कि यह देश भारत में मूल्य घटाकर स्पात और लोहा बेचना आरंभ कर दे। अपने देश के बाजार में वे स्पात का मूल्य ऊँचा रखेंगे और विदेशों में राशिपातन करना

आरंभ कर देंगे। इसलिये भारत को स्पात के मूल्य कम करने का प्रयत्न करना चाहिये। उद्योग का आंतरिक पुनर्सङ्गठन करके उत्पादन व्यय में कमी करनी चाहिये—तभी विदेशी स्पात की प्रतिस्पर्धा करने की स्थिति में भारतीय उद्योग आ सकेगा।

इस उद्योग के सम्बन्ध में कुछ बातों पर ध्यान देना आवश्यक है :—

(१) भारत में अच्छी किस्म का कच्चा लोहा पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध है। स्पात उत्पादन के अन्य सहायक कच्चे माल मेगनीज, चूना, क्रोम (chrome), मेगनेलाइट इत्यादि भी लोहे की खानों के समीप ही उपलब्ध हो जाते हैं।

(२) अन्य देशों की तुलना में भारत में भी कम उत्पादन-व्यय पर अच्छे प्रकार का कच्चा लोहा तैयार किया जाता रहा है इस लोहे की खपत ब्रिटेन, अमेरिका और जापान में अब तक होती रही है। इससे यह सावित होता है कि जहाँ तक कच्चे लोहे का प्रश्न है भारत की स्थिति बहुत अच्छी है।

(३) स्पात बनाने के लिये भारत में प्रायः सभी साधन उपलब्ध हैं।

(४) उद्योग की प्रगति में दो सबसे बड़ी बाधाएँ हैं और जब तक इन्हें दूर नहीं किया जाता, निकट भविष्य में उद्योग की प्रगति नहीं हो सकती। इस समय देश में यातायात का व्यय बहुत अधिक है। दूसरे देश में पक्के कोयले (Coking Coal) की बहुत अधिक कमी है। वास्तव में जैसा भी कोयला इस समय उपलब्ध है उसका अच्छे से अच्छा उपयोग करना चाहिये। इसके लिये एक और सुझाव दिया जा सकता है—ज्यों-ज्यों देश में जल-विद्युत शक्ति अधिक उपलब्ध होती जाय त्यों-त्यों रेलवे का विद्युतकरण कर देना

चाहिये। इससे कोयले का उपयोग कम हो जायगा और विद्युत शक्ति का उपयोग स्पात के निर्माण में भी हो सकेगा।

ये सब कठिनाइयाँ होते हुये भी हमारे देश के लोहे और स्पात के उद्योग में संतोषजनक प्रगति की है। इस प्रगति का अधिकांश श्रेय टाटा को दिया जा सकता है। यदि भविष्य में उत्पादन में वृद्धि की जा सकी और उद्योग के सङ्गठन में कुशलता लाई जा सकी तो यह आधार भूत उद्योग युद्ध और शांति दोनों काल में देश का बहुत महत्वपूर्ण उद्योग रहेगा।

— —

जूट उद्योग

यातायात वर्तमान सभ्यता का एक लक्षण है। अन्तर्राष्ट्रीय और अन्तर्देशीय व्यापार के कारण बहुत बड़ी मात्रा में माल एक स्थान से दूसरे स्थान पर पहुँचाया जाता है। प्राय: प्रत्येक देश में कच्चे और निर्मित माल का नित्य प्रति यातायात होता रहता है। इसके लिए बहुत बड़ी मात्रा में बारदाने की आवश्यकता होती है। ज्यों-ज्यों व्यापार का विकास होता गया त्यों-त्यों बारदाने के पदार्थ और बारदाने की क्रियाओं का भी विकास होता गया। विभिन्न प्रकार की निर्मित वस्तुओं को सुचारु रूप से बाँधना आधुनिक व्यापार की विशेषता है। बरदाने में अनेक प्रकार की वस्तुओं का उपयोग किया जाता है। लकड़ी, धातु, कपड़ा, बोरी, कागज इत्यादि अनेक पदार्थ उपयोग में लाये जाते हैं। विशेषकर जूट का महत्त्व कृषि पदार्थों के लिए बहुत है। बिना बारदाने की बोरियों के कृषि पदार्थों का आयात-निर्यात प्राय: असंभव है। उदाहरणार्थ भारत और अफ्रिका के राजनैतिक संबन्ध खराब हो जाने पर भारत ने अफ्रिका को बारदाना देना बंद कर दिया तो अफ्रिका के अंतर्देशीय व्यापार में कठिनाई उत्पन्न हो गई। कुछ वर्षों से जूट के स्थान पर अन्य वस्तुओं का उपयोग आरम्भ किया गया है। वैज्ञानिक अनुसंधानों के द्वारा ऐसे पदार्थों का भी निर्माण किया गया है जो जूट के स्थान पर काम कर सकें। परन्तु इतना सब कुछ होने पर भी बारदाने के लिए आज भी जूट का स्थान सबसे महत्वपूर्ण है। भारतवर्ष में पटसन का काम बहुत प्राचीन समय से होता चला आया है। कपड़े की भाँति पटसन के रेशे को तैयार करना, उससे कपड़ा

बनाना और उस कपड़े का निर्यात करना भारत का अत्यंत प्राचीन उद्योग है।

१८५७ तक हाथ के कर्घों से बना हुआ जूट का कपड़ा भारत से बाहर भेजा जाता था। ऐसे अनेक ऐतिहासिक प्रमाण हैं, जिनके आधार पर यह कहा जा सकता है कि जूट का उद्योग बंगाल की अर्थ-व्यवस्था में एक महत्वपूर्ण उद्योग था। परन्तु आधुनिक काल के जूट उद्योग का आरम्भ भारतवर्ष में सबसे पहले १८५५ में जार्ज ऑकलैंड नामक व्यक्ति ने किया। सेरामपुर के समीप रिहुरा नामक स्थान पर आधुनिक प्रकार के जूट का सबसे पहला कारखाना खोला गया। वोर्नियो एण्ड कम्पनी ने सबसे पहले इस क्षेत्र में कार्य आरम्भ किया गया था। १८५९ में जूट के उद्योग में सबसे पहले मशीन के करघे का उपयोग किया गया परन्तु प्रारम्भिक काल के प्रयत्न विशेष सफलता प्राप्त नहीं कर सके। इस काल में खुले हुये कारखाने थोड़े-थोड़े समय चलकर बन्द हो गये। उद्योग के प्रारंभिक ३० वर्षों में विकास की गति बहुत ही धीमी रही। बीच-बीच में उद्योग की कुछ अच्छी स्थिति हो जाती थी। उदाहरण के लिए १८६८ से १८७३ तक उद्योग में बहुत अधिक अभिवृद्धि हुई। लाभांश की दर २५ प्रतिशत तक बढ़ गई थी, परन्तु इस प्रकार की प्रगति की बुनियाद पक्की नहीं थी। कुछ ही समय पश्चात् जूट में अनावश्यक उत्पादन होने लगा और अनेक कारखाने बंद हो गये। १८८१ तक उद्योग धीरे-धीरे बढ़ता रहा और लगभग ५००० मशीन के करघे काम करने लगे। आरंभ में उद्योग में केवल बोरी ही बनाई जाती थी, परंतु ज्यों-ज्यों उद्योग का विकास होता गया, जूट का कपड़ा अधिक बनने लगा।

प्रथम महायुद्ध के कारण उद्योग को बहुत प्रोत्साहन मिला। युद्ध छिड़ जाने से जूट की सैनिक आवश्यकता बहुत अधिक बढ़

गई। सुरक्षा के लिए रेत के बोरे, सैनिक सामग्री भरने के लिए बोरियाँ, यातायात के लिए मोटर और डिब्बों को ढकने का सामान इत्यादि के लिए जूट के कपड़े की माँग बहुत बढ़ी। इसके साथ ही बाजार में भी साधारण माँग, व्यापार की तीव्रता के कारण बहुत अधिक बढ़ गई। प्रथम महायुद्ध काल में उद्योग की प्रगति बहुत अधिक हुई। राज्य की ओर से भी इसे पूर्ण सहायता मिली। उद्योग का इतना अधिक विकास हो गया और अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में इसका इतना अधिक महत्व बढ़ गया कि भारत के उद्योगधंधों में जूट उद्योग का प्रमुख स्थान हो गया।

द्वितीय महायुद्ध आरंभ होने के पूर्व तक इस उद्योग में लगभग २४ करोड़ से अधिक पूंजी लगी थी। लगभग ३ लाख से अधिक मजदूरों की संख्या थी और राज्य को प्रति वर्ष लगभग ६-७ करोड़ रुपयों की आय निर्यात-कर द्वारा होती थी। परंतु जूट का इतिहास अनेक प्रकार के परिवर्तनों से भरा हुआ है। एक ओर वह सङ्गठन की दृष्टि से अच्छे से अच्छा उद्योग माना जाता है। परंतु दूसरी ओर राष्ट्र-हित की दृष्टि से अब तक उस पर विदेशी और विदेशी सङ्गठन का अधिकार रहा है। यदि एक ओर इस उद्योग के कारण अंतर्राष्ट्रीय व्यापार में भारत को एकाधिकार का स्थान प्राप्त हुआ, तो दूसरी ओर देश के विभाजन के बाद यह सिद्ध हो गया है कि इस उद्योग का स्थानीयकरण व्यापक राष्ट्र-व्यवस्था की दृष्टि से अहितकर था। इस उद्योग से देश के निर्यात में काफी लाभ हुआ परंतु साथ ही १९२९ की मंदी का प्रभाव उद्योग पर इतना बुरा पड़ा कि बहुत लंबे समय तक उसमें श्रमिक संख्या कम की गई, काम के घंटे घटाये गये, शिफ्ट कम की गई और कभी-कभी उत्पादन पर भी नियंत्रण लगाया गया। इन विशेषताओं के कुछ मुख्य कारण हैं—

(१) बारदाने का उपयोग अधिकतर कृषि-पदार्थों के एक स्थान से दूसरे स्थान को ले जाने में होता है। जब देश में फसल अच्छी होती है तो बारदाने की माँग बढ़ जाती है और फसल खराब होने पर इसकी माँग एकाएक घट जाती है। अच्छी फसल के समय देश में बारदाने की माँग बढ़ने से उसका (बारदाने का) निर्यात घट जाता है, और यदि विदेशों में फसल अच्छी भी हो तो भी देश अधिक मात्रा में बारदाना बाहर नहीं भेज सकता।

(२) कुछ समय तक जूट की वस्तुओं का निर्माण इंग्लैंड में डंडी (Dundy) नामक स्थान पर भी होता रहा। डंडी और कलकत्ते की प्रतिस्पर्धा जूट उद्योग के इतिहास में महत्वपूर्ण घटना है। बहुत समय तक इंग्लैंड की सरकार ने डंडी के उद्योगपतियों को अनेक प्रकार से सहायता और संरक्षण दिया और बड़े लम्बे समय की प्रतिस्पर्धा के बाद बंगाल के जूट उद्योग की श्रेष्ठता को स्वीकार किया।

(३) जूट उद्योग का स्थानीयकरण एक बन्दरगाह पर हुआ है, और अब तक उद्योग का मुख्य उद्देश्य निर्यात रहा है, इसलिए उद्योग का सारा आधार निर्यात रहा है। उसकी आंतरिक समस्याओं स्थानीयकरण के दुष्परिणामों, पटसन की खेती और पटसन के उद्योग के असंतुलन की ओर उद्योगपतियों का ध्यान नहीं गया। यही कारण है कि देश का विभाजन होने पर उद्योग इतना अस्त-व्यस्त हो गया कि लगभग १५० वर्ष पुराना उद्योग अचानक दो भागों में विभक्त हो गया है। पटसन के खेत पाकिस्तान में चले गये और जूट के कारखाने भारत में रह गये। बड़ी देर के बाद भारत सरकार ने अनुभव किया कि संयुक्त भारत में यद्यपि जूट का उद्योग सर्वश्रेष्ठ उद्योग था, परंतु विभाजन के पश्चात् औद्योगिक दृष्टि से वह एक जटिल समस्या बन गया है। उद्योग की उपर्युक्त

विशेषताओं के कारण १९२९ की मंदी का प्रभाव इसीलिए बुरा पड़ा है।

१९२९ की मंदी का प्रभाव

प्रथम महायुद्ध के पश्चात् सारे संसार में जो सामान्य मूल्य-पात हुआ उसका प्रभाव जूट के उद्योग पर भी बहुत अधिक पड़ा। अन्य भारतीय उद्योगों के समान जूट उद्योग की स्थिति मूल्यपात के कारण बिगड़ती हुई चली गई। एक ओर जूट के सामान के मूल्य गिर रहे थे, परन्तु जूट के सामान की मात्रा बाजार में बहुत अधिक थी। युद्धकालीन उत्पादन क्रियाओं के कारण जूट में अनावश्यक उत्पादन बहुत अधिक हो गया था। दूसरी ओर उद्योग में मजदूरों की हड़ताल बार-बार हो रही थी। उद्योग एक ऐसे संकट में पड़ गया कि जिससे वह अनेक वर्षों तक निकल नहीं पाया। परंतु फिर भी अन्य उद्योगों की अपेक्षा जूट उद्योग ने मंदी का बहुत अच्छी तरह से मुकाबला किया। इसके कुछ मुख्य कारण निम्न प्रकार थे—

(१) जूट उद्योग की आंतरिक व्यवस्था और संगठन अन्य उद्योगों की अपेक्षा अधिक दृढ़ था।

(२) जूट उद्योग में आरंभ से ही लाभ की दर ऊँची रही है। जूट उद्योगपतियों ने संकटकालीन अवस्था का मुकाबला करने के लिए आरंभ से ही बहुत बड़ी राशि में संपत्ति संग्रह कर ली थी।

(३) जूट उद्योग की स्थिति आंशिक रूप से एकाधिकार की थी। इसलिए उसमें प्रतिस्पर्धा का प्रश्न इतना अधिक गम्भीर नहीं था।

(४) युद्धोत्तर काल आरंभ होते ही जूट के उद्योगपतियों ने मूल्यपात का सामना करने के लिए पहले से ही आयोजन कर लिया

था। १९२६ से ही कलकत्ते की जूट की मिलों ने स्वेच्छा से उत्पादन की मात्रा पर प्रतिबंध लगा दिया था। इसके साथ ही जूट की मिलों में काम करने के घंटे निश्चित कर दिये थे।

उपर्युक्त कारणों से १९२९ की मंदी का प्रभाव जूट उद्योग को इतनी अधिक हानि नहीं पहुँच सका, जितनी की अन्य उद्योगों को हानि हुई। परंतु फिर भी मंदी के प्रभाव उद्योग पर स्पष्ट प्रतीत होने लगे थे। १९३४ में जूट की अधिकांश मिलों ने उत्पादन की मात्रा पर तथा काम के घंटों पर प्रतिबंध लगा दिया। इंडियन-जूट-मिल-एसोसियेशन (Indian Jute Mill Association) से संबन्धित जो कारखाने थे, उनमें ४५ घंटा फी हफ्ता कार्य निश्चित किया गया और लगभग १५ प्रतिशत करघे बन्द कर दिये गये। परंतु यह निश्चिय अधिक दिनों तक कार्यान्वित नहीं किया जा सका, क्योंकि जो मिलें एसोसियेशन की सदस्य नहीं थी वे एसोसियेशन की सदस्य मिलों, से प्रतिस्पर्धा करने लगीं। अतः इस निर्णय को समाप्त कर दिया गया। १९३७ में उद्योग की स्थिति चिंताजनक बन गई। बाजार के भाव गिर रहे थे। कारखानों में आपसी प्रतिस्पर्धा थी और मजदूरों ने हड़ताल करना आरंभ कर दिया था। १९३८ में स्थिति इतनी बिगड़ गई कि प्रांतीय सरकार कोउद्यो ग में हस्तक्षेप करना पड़ा। इस हस्तक्षेप के फलस्वरूप जूट की सारी मिलों ने स्वेच्छा से काम के घंटे स्वयं निश्चित कर लिए और ७.५ प्रतिशत जूट के कपड़े के करघे बन्द हो गये और १० प्रतिशत बोरी बनाने वाले करघे बन्द कर दिये गये। इसी समय जूट की कीमत बाजार में घटती जा रही थी। जूट की खेती करने वाले किसानों को बड़ी भारी हानि का सामना करना पड़ता था और जूट का व्यापार भी अस्त-व्यस्त हो रहा था। बङ्गाल की प्रांतीय सरकार ने जूट का न्यूनतम मूल्य (minimum price)

निश्चित कर दिया। प्रांतीय विधान सभा में जूट के व्यापार के राष्ट्रीयकरण के लिए एक बिल भी पेश किया गया, परंतु इसी समय द्वितीय महायुद्ध आरंभ हो गया।

द्वितीय महायुद्ध का उद्योग पर प्रभाव

द्वितीय महायुद्ध शुरू हो जाने के कारण उद्योग की परिस्थिति में अचानक परिवर्तन हुआ। जूट के सामान के लिए सरकारी और गैर-सरकारी माँग बड़ी तेजी के साथ बढ़ी। इसलिये जूट की मिलों ने प्रांतीय सरकार की आज्ञा से काम करने के घंटों के प्रतिबन्ध को समाप्त कर दिया। जिन करघों को बन्द कर दिया गया था उन्हें फिर से चालू कर दिया गया। इंडियन फेक्ट्रीज ऐक्ट (Indian Factories Act) के कुछ कानून, जो जूट के कारखानों के लिए बाधक सिद्ध होते थे, उन्हें कारखानों पर से उठा दिया गया। राज्य की ओर से भी पूरी सहायता मिलने लगी। प्रांतीय असेम्बली में राष्ट्रीयकरण के विधेयक को भी स्थगित कर दिया गया। इस प्रकार जूट के कारखाने युद्धकाल में अपनी पूर्ण उत्पादन शक्ति से काम कर रहे थे।

युद्ध आरंभ होते ही जूट के व्यापार पर उसके प्रभाव स्पष्ट प्रतीत होने लगे। जर्मनी द्वारा कुछ देशों पर कब्जा कर लिया गया था, इसलिए उन देशों में जूट का निर्यात करना असंभव था। युद्ध आरंभ होने के पूर्व लगभग ३० प्रतिशत निर्यात का भाग इन्हीं देशों में भेजा जाता था। अब इन देशों के बाजार युद्ध के कारण प्रायः बन्द हो चुके हैं। परन्तु यह ३० प्रतिशत भाग अन्य देशों को भी उपलब्ध नहीं हो सका। ज्यों-ज्यों युद्ध बढ़ता जाता था, सामुद्रिक यातायात की कठिनाइयाँ बढ़ रही थीं। इसलिए जूट का निर्यात विशेष तौर पर गैर-सरकारी तरीके से, बहुत कम

हो गया था। विदेशों को जूट प्राप्त न होने के कारण जूट के स्थान पर अन्य वस्तुओं का उपयोग करना पड़ा। जैसे जर्मनी और इटली में क्रेफ्ट पेपर (Kraft Paper), और दक्षिणी अमेरिका में हेम्प (Hemp) का उपयोग होने लगा। युद्धोत्तर काल में भी जूट के उद्योग के सामने यह समस्या सदा बनी रहेगी कि उसके स्थान पर दूसरी चीजों का उपयोग न होने लगे।

युद्धकाल में विशेषकर १९४३ के बाद बंगाल का प्रांत जापानी आक्रमण के क्षेत्र में आ चुका था, इसलिये सरकार को सुरक्षा की दृष्टि से बंगाल प्रान्त के अनेक उद्योगों पर प्रतिबन्ध लगाना पड़ा। बर्मा में फौजी रसद पहुँचाने के लिये सैनिक अधिकारियों को कलकत्ते में बड़े-बड़े माल गोदामों की जरूरत थी। अनेक जूट के कारखानों के कुछ भाग राज्य ने हस्तान्तरित कर लिये थे। जूट के कपड़े और बोरियों की सरकार को बहुत अधिक आवश्यकता थी। इसलिये लगभग २२ प्रतिशत करघों पर केवल सरकार के लिये माल तैयार किया जा रहा था। इस हस्तक्षेप की नीति के कारण उद्योग को अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ा।

विभाजन का जूट उद्योग पर प्रभाव

भारत का विभाजन जूट उद्योग के इतिहास में एक महत्वपूर्ण घटना है। संयुक्त भारत में संगठन और पूँजी की दृष्टि से जूट उद्योग का द्वितीय स्थान था। भारत के निर्यात में लगभग ३० प्रतिशत कच्चा जूट या जूट से बना हुआ माल होता था। लगभग ३ लाख से ऊपर मजदूर जूट उद्योग में लगे हुये थे। २५ करोड़ रु० की पूंजी इस उद्योग में भारतीय और विदेशी उद्योगपतियों ने लगा रखी थी। परन्तु विभाजन के फलस्वरूप उद्योग की नींव हिल गई है। पाकिस्तान जूट की खेती करने वाला सबसे मुख्य क्षेत्र है परन्तु

जूट के अधिकांश कारखाने कलकत्ता, हुगली, हवड़ा और चौबीस परगने के क्षेत्र में स्थिति है। विभाजन के कारण सारा उद्योग दो भागों में बट गया है। कच्चे जूट का लगभग ८० प्रतिशत पूर्वी बङ्गाल में होता है। परन्तु पूर्वी बङ्गाल में जूट के कारखाने नहीं हैं। इसके विपरीत पश्चिमी बङ्गाल में जूट की खेती बहुत थोड़ी होती है। परन्तु जूट का माल बनाने के कारखाने पश्चिमी बङ्गाल में स्थित है। लगभग ७० प्रतिशत कच्चे जूट की पूर्ति पूर्वी बङ्गाल से करनी पड़ती है। उद्योग की इस परिवर्तित परिस्थिति के कारण उसके सामने एक आर्थिक संकट खड़ा हो गया है। कच्चे जूट के लिये पाकिस्तान पर निर्भर करना उद्योग में अस्थिरता और अनिश्चियात्मकता उत्पन्न कर देता है। यदि भारत और पाकिस्तान के संबंध मैत्रीपूर्ण होते तो शायद पाकिस्तान से कच्चा जूट भारत के कारखानों को नियमित रूप से मिल सकता था। परन्तु विभाजन के पश्चात् से ही दोनों देशों के संबंध अमैत्रीपूर्ण हैं। इसलिये पाकिस्तान पर जूट के लिये निर्भर करना भारत के लिये एक अव्यवहारिक बात हो गई है। ऐसे अनेक अवसर आये हैं जब कि पाकिस्तान ने कच्चा जूट देने का वायदा करके भी भारत को जूट नहीं दिया।

विभाजन से पूर्व अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में संयुक्त बङ्गाल की एकाधिकार की स्थिति थी। परन्तु ज्योंही कारखानों के क्षेत्रों से जूट की खेती के क्षेत्र दूर हुये हैं, भारत की एकाधिकार स्थिति समाप्त हो चुकी है। जो भारत विभाजन से पूर्व सारे संसार का ५५ प्रतिशत जूट का निर्यात करता था वही आज कच्चे जूट का सबसे अधिक आयात करता है। कच्चा जूट उत्पादन-व्यय का लगभग ७० प्रतिशत भाग होता है और कच्चे जूट के आयात होने के कारण जूट के पक्के माल का उत्पादन व्यय पाकिस्तान की मूल्य नीति, निर्यात

कर, व्यापार-सङ्गठन इत्यादि पर निर्भर करता है। एक प्रकार से भारत के जूट उद्योग को ही हानि नहीं हुई है, परन्तु जूट के निर्यात व्यापार को भी बड़ा धक्का लगा है। विभाजन से पूर्व निर्यात का लगभग २५'६ प्रतिशत भाग जूट की वस्तुओं का होता था। विभाजन के बाद यह अनुपात यद्यपि कुछ बढ़ा है परन्तु इसकी सारी निर्भरता पाकिस्तान के कच्चे जूट के निर्यात पर आधारित है। जूट का निर्यात डालर की दृष्टि से बहुत ही आवश्यक है। भारत और अमेरिका के व्यापारिक संबंध युद्धोत्तर काल में अधिक व्यापक हुये हैं। वार्षिक निर्यात का लगभग ३० प्रतिशत भाग अमेरिका को जूट भेजना होता है। परन्तु इसकी स्थिरता भी पाकिस्तान के कच्चे-जूट पर आधारित है। कच्चे जूट के उत्पादन में पाकिस्तान की अर्थ-एकाधिकार स्थिति है और जूट की वस्तुओं के निर्माण में भारत की अर्थ-एकाधिकार स्थिति है। दोनों ही देश विभाजन के पश्चात् कच्चे जूट या जूट के पक्के माल के लिये एक पूर्ण एकाधिकार की स्थिति में नहीं रहे हैं। इसके फलस्वरूप दोनों ही देशों को हानि हुई है।

कुछ विशेषज्ञों का अनुमान है कि भारत में जूट का उत्पादन बढ़ाकर भारत जूट में स्वयंपूर्ण बनाया जा सकता है परन्तु इस समस्या का दूसरा पक्ष भी है। भारत में अब तक जिस प्रकार का जूट का माल बनाया जाता रहा है उसके लिये जिस प्रकार के जूट के माल की आवश्यकता होती है, उसकी खेती के लिये भारत में अनुकूल जलवायु बहुत कम क्षेत्रों में पाई जाती है। इस मत के अनुसार लगभग ७० प्रतिशत कच्चे जूट का आयात बहुत समय पाकिस्तान से ही करना होगा। यदि भारत को अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में विभाजन के पूर्व की सी स्थिति प्राप्त करनी है तो उसे जूट का निर्यात बढ़ाना होगा और अनेक वर्षों तक पाकिस्तानी कच्चे जूट

के आयात पर निर्भर रहना होगा। परन्तु गत ३ वर्षों के भारत और पाकिस्तान के व्यापार के आँकड़ों से, इससे बिलकुल प्रतिकूल प्रगति मालूम होती है। १९४८ में पाकिस्तान के जूट के निर्यात का ८३ प्रतिशत भाग भारत में आया। वह अब घटकर ७० प्रतिशत रह गया है। इसका एक मुख्य कारण है। पाकिस्तान भारत को जूट न बेचकर विदेशों को बेचना चाहता है और इसीलिये चिटगाँव के बंदरगाह के विकास के लिये वह तत्पर है। कुछ कारणों से पाकिस्तान की सरकार ने जूट का मूल्य भी बढ़ा दिया है। भारत के जूट के कारखाने इस बढ़े हुये मूल्य पर जूट खरीदने की स्थिति में नहीं है। स्वयं पाकिस्तान भी भारत को एक निश्चित मात्रा में ही कच्चा जूट देना चाहता है। जूट की गाँठे विदेशों को जाती हैं। उन्हें पाकिस्तान के निर्यात में प्रथम पूर्वता दी जाती है, परन्तु जो गाँठें भारत को आती हैं उन्हें द्वितीय पूर्वता दी जाती है। ऐसे अनेक योरोपीय देश हैं, विशेषकर इंगलैंड जो पाकिस्तान से जूट खरीदकर अमेरिका से डॉलर कमाना चाहते हैं। ये देश भारत की अपेक्षा ऊँचे मूल्य पर भी जूट खरीदने को तैयार रहते हैं। इसलिये पाकिस्तान के कच्चे जूट के बाजार में भारत लेने की हैसियत से अन्य देशों के सामने टिक नहीं सकता। यही कारण है कि धीरे-धीरे पाकिस्तान से भारत को जूट का निर्यात घटता जा रहा है। इसका प्रभाव हमारे देश के जूट उत्पादन पर भी पड़ता है। अब भारत में जूट के कारखाने कपड़े के स्थान पर बोरियाँ अधिक बनाने लगे हैं क्योंकि उनके बनाने में भारतीय कच्चे जूट की जरूरत होती है।

रुपये के अवमूल्यन के प्रभाव

१८ सितम्बर १९४९ को ब्रिटेन ने पौन्ड का अवमूल्यन किया। ब्रिटेन के इस निर्णय के अनुसार भारत ने भी रुपये का अवमूल्यन

किया, परन्तु पाकिस्तान की सरकार ने अपने रुपये का विदेशी मूल्य पूर्ववत रखा। पाकिस्तान के इस निर्णय के फलस्वरूप भारत के रुपये और पाकिस्तान के रुपये में विनिमय की नई दर स्थापित हुई। पाकिस्तान के १०० रु० भारत के १४४ रु० के बराबर हैं। इस नई दर के कारण पाकिस्तान के कच्चे जूट की कीमत में ४४ प्रतिशत वृद्धि हो गई। कच्चे जूट की यह मूल्य वृद्धि भारत के लिये असह्य थी। इसलिये भारत की जूट की मिलों ने पाकिस्तान से जूट खरीदना कम कर दिया। अवमूल्यन के पहले ही भारत ने पाकिस्तान से जूट खरीदना कम कर दिया था। अवमूल्यन के पश्चात् भारत की खरीद में और भी ह्रास हुआ। भारत सरकार और इंडियन जूट मिल ऐसोशियेशन ने निर्णय किया कि भारत पाकिस्तान से जूट नहीं खरीदेगा। इस प्रकार सितम्बर १९४९ से भारत और पाकिस्तान के बीच एक प्रकार से व्यापारिक द्वन्द्व आरंभ हुआ। जब भारत ने पाकिस्तान से जूट खरीदना बंद कर दिया तो पाकिस्तान के बाजारों में जूट की कीमत घट गई। लगभग २८ प्रतिशत कच्चे जूट के मूल्य में ह्रास हुआ। गिरते हुये मूल्य को रोकने के लिये पाकिस्तान सरकार ने जूट के ऊपर नियंत्रण लगाया और जूट की न्यूनतम दर निर्धारित की। पाकिस्तान ने जो मूल्य दर निर्धारित की वह भारत के लिये बहुत ऊँची थी। इसलिये भारत की मीलें पाकिस्तान से जूट खरीदने में असमर्थ थीं परन्तु पाकिस्तान के जूट व्यापारियों ने चोरी से लाखों गाँठें भारत को भेजीं। अप्रैल १९५० में पाकिस्तान और भारत में एक अस्थायी व्यापारिक समझौता हुआ जिसके अंतर्गत पाकिस्तान ने अपने रोके हुये माल को भारत भेजना आरंभ किया।

गत् ४ वर्षों में भारत और पाकिस्तान के व्यापारिक संबंध इतने अस्थिर और संघर्षमय रहे हैं कि उनका प्रभाव जूट के

व्यापार पर सबसे अधिक पड़ा है। अवमूल्यन के फलस्वरूप दोनों देशों में और भी अधिक मनमुटाव हुआ। इसलिये भारत की मीलों को अब भी नियमित रूप से पर्याप्त मात्रा में कच्चा जूट नहीं मिलता है। यद्यपि अवमूल्यन का प्रभाव स्थायी नहीं है, परन्तु फिर भी इसका प्रभाव जूट के व्यापार पर एक प्रकार से स्थायी पड़ा है। जैसे, पाकिस्तान ने धीरे-धीरे विदेशों को कच्चा जूट भेजना आरंभ कर दिया है। वह अब अपना कच्चा जूट सस्ते मूल्य पर भारत को न बेच कर विदेशों को बेचना अधिक पसंद करता है। परन्तु फिर भी जूट की खेती और जूट के कारखानों के बारे में एक बात ध्यान में रखनी जरूरी है। अंतर्राष्ट्रीय व्यापारिक क्षेत्रों में विभाजन के पश्चात् यह धारणा बन गई थी कि संयुक्त भारत की जूट की एकाधिकारिता विभाजन के फलस्वरूप पाकिस्तान के पास चली गई है क्योंकि पाकिस्तान संयुक्त भारत का ७५ प्रतिशत कच्चा जूट पैदा करता है। परन्तु अवमूल्यन के पश्चात् भारत और पाकिस्तान में जो व्यापारिक अवरोध उत्पन्न हुआ उसने यह धारणा बहुत कुछ असत्य सिद्ध कर दी है। निस्संदेह पाकिस्तान में जूट की खेती सबसे ज्यादा होती है। परन्तु साथ ही जूट के कारखानों की सबसे अधिक संख्या भारत में है। जब तक पाकिस्तान अपने जूट के कारखाने स्वयं नहीं बना लेता या जूट के निर्यात के लिये चिटगाँव का बंदरगाह तैयार नहीं हो जाता है तब तक पाकिस्तान जूट का सबसे बड़ा उत्पादक होते हुए भी जूट का एकाधिकार प्राप्त नहीं कर सकता। वास्तव में जूट का निरंकुश एकाधिकार पाकिस्तान के पास किसी भी अवस्था में नहीं रह सकता। जब तक पाकिस्तान केवल जूट का उत्पादक है, तब तक भारतवर्ष सबसे बड़ा जूट का क्रेता रहेगा। जब तक चिटगाँव का बंदरगाह निर्यात के योग्य नहीं हो जाता तब तक पाकिस्तान के जूट को केवल दो ही रास्ते हैं—या तो

भारत के जूट के कारखाने या भारत के बंदरगाहों के द्वारा विदेशों को निर्यात, दोनों ही अवस्थाओं में पाकिस्तान के जूट को भारत में आना पड़ेगा। और जब तक यह स्थिति कायम रहती है, जूट के क्षेत्र में भारत और पाकिस्तान एक दूसरे के प्रतिस्पर्धी नहीं परन्तु एक दूसरे के पूरक हैं। पाकिस्तान अपनी जूट की बिक्री के लिये भारत पर निर्भर रहेगा और भारत के जूट के कारखाने कच्चे जूट के लिये पाकिस्तान पर निर्भर रहेंगे। इसलिये यह एकाधिकारिता नहीं द्वि-अधिकारिता (Bilateral-monopoly) है। और जब तक दोनों देशों में जूट के संबंध में समझौता नहीं हो जाता तब तक जूट का व्यापार, उत्पादन और निर्माण कार्य में अवरोध बना रहेगा।

अवमूल्यन के कारण भारत के जूट उद्योग को और पाकिस्तान की जूट की खेती को जो हानियाँ हुई हैं उनका केवल एक ही उपाय है। पश्चिमी और पूर्वी बंगाल राजनैतिक दृष्टि से दो विभिन्न होते हुये भी दोनों की अर्थ व्यवस्था अन्योन्यावलम्बी। जितनी जल्दी इस आर्थिक तथ्य को दोनों देश मान्यता देंगे उतनी शीघ्रता से एक दूसरे के व्यापारिक संबंध और विशेषकर जूट की स्थिति में सुधार हो सकेगा।

जूट उद्योग का भविष्य

जूट उद्योग के सामने इस समय एक बहुत बड़ा संकट है। विभाजन ने इस उद्योग के लिये अनेक समस्याएँ खड़ी कर दी हैं। यद्यपि विभाजन के पहले भी इस उद्योग की कुछ जटिल समस्याएँ थी, परन्तु आंतरिक संगठन और पर्याप्त साधनों के कारण समय-समय पर यह उद्योग उन समस्याओं का सामना कर सका परन्तु विभाजन ने उद्योग की नींव को हिला दिया है। उद्योग के सामने इस समय मुख्यतया तीन समस्याएँ हैं :—

(१) विभाजन के कारण भारत के जूट के कारखानों के लिये कच्चा जूट उपयुक्त मात्रा में और उपयुक्त प्रकार का किस प्रकार प्राप्त किया जाय। यह कच्चा जूट भविष्य में भी पाकिस्तान से लिया जाता रहे या भारत में जूट की फसल बढ़ाने की कोशिश की जाय।

(२) जूट के व्यापार में इस समय बड़े जोरों से सट्टेबाजी चल रही है, और कभी-कभी वह सारे समाज के लिये अहितकर सिद्ध होती है।

(३) जूट के स्थान पर निकट भविष्य में अन्य प्रकार के रेशों का भी उपयोग आरम्भ हो सकता है।

जहाँ तक भारत में जूट के उत्पादन करने का प्रश्न है, निस्संदेह उसमें बहुत कुछ प्रगति की जा सकती है। विशेषज्ञों ने भी अब यह मान लिया है कि भारत में जूट की खेती का प्रसार संभव है। जूट की वस्तुओं का उत्पादन भारत के लिये अत्यन्त आवश्यक है। भारत के निर्यात व्यापार का बहुत बड़ा भाग जूट का होता है और इससे भारत को डालर कमाने का मौका मिलता है। जूट उद्योग से राजकीय आय में भी काफ़ी भाग जाता है। इसके अतिरिक्त उद्योग के द्वारा लाखों की संख्या में मजदूरों को काम मिलता है। यदि देश में अनुकूल परिस्थितियाँ बनी रहें तो साधारण रूप से हम २७ लाख जूट की गांठें उत्पन्न कर सकते हैं। युद्ध और युद्धोत्तर काल में अनाज की कमी के कारण जूट पैदा करने वाली कुछ भूमि अनाज पैदा करने के काम में परिवर्तित कर दी गई थी। देश में आज भी अन्न संकट विद्यमान है। किस सीमा तक इस भूमि को फिर से जूट की खेती में लगाया जा सकता है, यह गंभीर प्रश्न है। यदि केवल आर्थिक दृष्टि से इस प्रश्न को देखा जाय तो यह स्पष्ट प्रतीत होगा कि जूट का उत्पादन करके जूट की वस्तुओं

का निर्यात करना और बदले में विदेशों से अनाज मंगाना, जूट के खेतों को खाद्यान के खेतों में परिवर्तित करने की अपेक्षा अधिक लाभदायक है। विदेशों में जूट की वस्तुओं का मूल्य बहुत अधिक मिल सकता है। इसके अतिरिक्त इस मान से विदेशी विनिमय भी अधिक अर्जित किया जा सकता है। परन्तु कृषि-भूमि के इस पुनर्वितरण के अलावा कुछ ऐसे उपाय हो सकते हैं जिनके द्वारा भारत की जूट की खेती में वृद्धि और प्रसार किया जा सकता है। उदाहरण के लिये निम्न उपायों के द्वारा, जूट उत्पादन में सफलता प्राप्त की जा सकती है :—

जूट की खेती में उन्नति करना

इस समय जिस भूमि पर जूट की खेती होती है, उस पर खेती की क्रिया में सुधार करना। अच्छा खाद्य, अच्छे बीज और आधुनिक काल के खेती के औजारों का उपयोग करके प्रति एकड़ जूट की उत्पत्ति में वृद्धि की जा सकती है। जूट-कृषि के एक विशेषज्ञ डा० कुन्ड (Dr. Kund) का अनुमान है कि लगभग ५० प्रतिशत जूट की खेती केवल अच्छे बीज और खाद के द्वारा बढ़ाई जा सकती है। यदि इस कथन में अतिशयोक्ति मान भी ली जाय तो वास्तविकता को ध्यान में रखते हुये कम से कम २० प्रतिशत वृद्धि तो की ही जा सकती है।

कृषि क्षेत्र में प्रसार करना

वर्तमान जूट की भूमि में उन्नति करने के अलावा जूट के अंतर्गत भूमि के क्षेत्रों में भी प्रसार किया जा सकता है। बंगाल, उड़ीसा, बिहार, आसाम और ब्रह्मपुत्र की घाटी में ऐसे अनेक क्षेत्र है जिनको कृषि योग्य बनाकर जूट के उत्पादन में लगाया जा सकता है। विशेषज्ञों के अनुसार इस प्रकार की बंजर भूमि का क्षेत्र लगभग

६० लाख एकड़ है। प्रश्न केवल इस बात का है कि इन बंजर क्षेत्रों को किस प्रकार खेती के योग्य बनाया जाय। ऐसे प्रबन्ध की व्यवस्था की जाय, जिससे पूर्वी बंगाल के विस्थापित कृषक इन क्षेत्रों में बसाये जा सकें और वे इन क्षेत्रों में जूट की खेती करना आरम्भ कर दें। इस कार्य के लिये केन्द्रीय सरकार ही विशेष उत्तर-दायित्व लेने की स्थिति में है, और वास्तव में जूट की खेती और जूट का व्यापार चाहे प्रान्तीय क्षेत्रों में होता हो, परन्तु वह समस्त राष्ट्र के आर्थिक ढाँचे की एक बुनियादी ईंट है। इसलिये केन्द्रीय सर-कार को इस दिशा में कदम उठाना जरूरी है।

अन्य प्रान्तों की खेती करना

अब तक बंगाल या विहार को छोड़कर दूसरे प्रान्तों में जूट की खेती नाम मात्र को ही होती है। जूट की खेती के लिये बंगाल का एकाधिकार होने के कारण दूसरे प्रान्तों में इस दिशा में कोई प्रयत्न नहीं किया गया। परन्तु जूट के विशेषज्ञों की राय में दूसरे प्रान्तों में भी ऐसे क्षेत्र हैं जिनकी जलवायु जूट की खेती के अनुकूल है। दक्षिणी भारत में ऐसे अनेक जिले हैं जहाँ तापमान और वर्षा जूट के अनुकूल है। दक्षिण कनाड़ा और मलाबार और करनाटिक का कुछ भाग तथा धारवार और कोंकण का कुछ भाग जूट की खेती के योग्य माने जाते हैं। मलाबार, कनाडा और ट्रावणकोर रियासत में जूट को गलाने के लिये भी सुविधाएँ विद्यमान हैं। इस क्षेत्र में लगभग ८ हजार भूमि जूट की खेती के योग्य अभी भी मानी जा सकती है। मद्रास में जूट की चार मिलें हैं जिनमें अब तक कच्चा जूट उड़ीसा और कलकत्ता से आता है। परन्तु जब पड़ोसी क्षेत्रों में जूट पैदा होने लगेगा तो दक्षिण के जूट के कार-खाने स्वयं पूर्ण बन जावेंगे।

चावल और जूट की दो-फसली खेती करना

जूट का उत्पादन एक और तरीके से भी बढ़ाया जा सकता है। बंगाल, बिहार, आसाम में चावल पैदा करने वाले कुछ ऐसे क्षेत्र हैं जहाँ चावल के खेतों में चावल के साथ-साथ जूट की फसल भी तैयार की जा सकती है। चावल की खेती इस क्षेत्र में केवल एक फसल लाती है। उन्हीं खेतों में दूसरी फसल भी तैयार की जा सकती है। अभी भी पूर्वी बंगाल और आसाम के कुछ भागों में इस प्रकार से दो फसलें पैदा की जा रही हैं। इसी प्रणाली को अन्य क्षेत्रों में भी अपनाया जा सकता है। विशेषकर दामोदर घाटी योजना और कोसी नदी योजना के पूरे हो जाने पर बहुत सी बंजर भूमि कृषि योग्य बन जायगी और इन क्षेत्रों में सिंचाई के लिये पानी मिल सकेगा।

उत्पादन वृद्धि के साथ-साथ जूट के किस्म पर भी ध्यान देना आवश्यक होगा। अभी भारत में जो जूट पैदा किया जाता है उसमें केवल ३० या ४० प्रतिशत जूट केवल ऐसा है जो भारत के कारखानों में लाया जा सकता है। अच्छे रेशों वाला जूट अभी भी भारत को पाकिस्तान से ही प्राप्त करना पड़ता है। उत्तम-प्रकार का जूट पैदा करने के लिये अच्छे बीज और रेशे गलाने की अच्छी सुविधाएँ आवश्यक होंगी।

केवल उद्योग के आंतरिक सङ्गठन से इस क्षेत्र में सफलता आसानी से प्राप्त नहीं हो सकती। राज्य को इस दिशा में विशेष जिम्मेदारी लेनी चाहिये। उद्योग की एकाधिकारिता के कारण जो वैज्ञानिक प्रगति रुक गई थी उसे अब जूट उद्योग की नई परिस्थितियों में आगे बढ़ाना होगा। तभी भारत के जूट के कारखाने जूट की मात्रा और किस्म की दृष्टि से स्वयंपूर्ण बन सकेंगे।

कोयले का उद्योग

कोयले के इतने विभिन्न उपयोग हो सकते हैं कि औद्योगिक कच्चे मालों में उसका सबसे महत्वपूर्ण स्थान है। कोयले को पिघलाकर या उसका धुँआ बना कर ऐसे अनेक रासायनिक पदार्थ तैयार किये जाते हैं जिनका उपयोग उद्योग और औषधि इत्यादि में बहुत अधिक होता है। उष्णता की दृष्टि से भी कोयले से सबसे अधिक गर्मी पैदा की जा सकती है, और वह सबसे अधिक सस्ता पड़ता है। कारखानों को चलाने के लिये साधारण तेल, पेट्रोल और डिसिल तेल से भी काफी शक्ति का सृजन होता है। परन्तु किसी भी देश में जल विद्युत शक्ति के अभाव में उद्योग-धन्धों को सबसे अधिक कोयले पर ही निर्भर रहना पड़ता है। इसके अतिरिक्त कोयले से कुछ ऐसे सहायक पदार्थ भी बनते हैं जैसे कोलतार, जिनका उपयोग सड़क बनाने में होता है। संसार भर में अधिकांश रेलें कोयले के द्वारा ही चलती हैं। संक्षेप में उद्योग-धन्धे, यातायात, भारी रासायनिक पदार्थ, औषधि इत्यादि की दृष्टि से कोयला अत्यन्त आवश्यक पदार्थ है।

संसार में सबसे अधिक कोयले का उत्पादन अमेरिका, ब्रिटेन, जर्मनी और रूस में होता है। लगभग संसार के कोयले का $\frac{4}{5}$ हिस्सा इन्हीं देशों में पाया जाता है। केवल अमेरिका में ही औसत रूप से प्रति मास ३ करोड़ टन कोयला खानों से निकाला जाता है; जब कि भारतवर्ष में केवल २० लाख टन कोयला प्रति मास निकाला जाता है। इन आँकड़ों से स्पष्ट सिद्ध होता है कि कोयले के उत्पादन में, संसार के अन्य देशों की अपेक्षा, भारत का बहुत

कम उत्पादन है। देश की औद्योगिक व्यवस्था में भी कोयले के उद्योग का कोई विशेष महत्व नहीं है यदि हम कोयले के उद्योग को कपड़े और जूट के उद्योग से तुलना करें तो प्रतीत होगा कि अभी तक भारत में कोयला निकालने का काम बहुत ही पिछड़ा हुआ है। कपड़े के उद्योग में, संसार के अन्य देशों में, भारत का लगभग पाँचवा स्थान आता है। और कपड़े के अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में भी भारतीय व्यापार का कुछ स्थान बन चुका है। जूट के उद्योग में तो विभाजन के पश्चात् भी भारत का अद्वितीय स्थान है। परन्तु कोयले के उद्योग में अभी कोई विशेष प्रगति नहीं की है। फिर भी अन्य उद्योग-धन्धों को सबसे अधिक शक्ति के लिये कोयले पर ही निभर रहना पड़ता है। ज्यों-ज्यों देश का औद्योगीकरण होता जाता है कोयले के उद्योग का महत्व बढ़ता जाता है।

कोयले की खानें

मोटे रूप से कोयले के क्षेत्रों को विशेषज्ञों द्वारा दो भागों में विभाजित किया जाता है। पहला क्षेत्र गोंडवाना-क्षेत्र कहलाता है। दूसरा क्षेत्र अन्य साधारण क्षेत्र "Tertiary" कहलाता है। गोंडवाना क्षेत्र के अंतर्गत बंगाल, बिहार, मध्य प्रदेश, उड़ीसा, मध्य भारत, मद्रास, हैदराबाद और कुछ पूर्वी रियासतें आती हैं तथा अन्य क्षेत्र के अंतर्गत आसाम, पंजाब और काश्मीर। १८७३ में सबसे पहले अनुमान लगाया गया था कि कोयला क्षेत्र का लगभग ३५ हजार वर्ग मील क्षेत्र है। यह क्षेत्र ब्रिटेन के कोयले के क्षेत्र से लगभग तिगुना है। गोंडवाना क्षेत्र की खानें अधिकतर नदियों के कछार में स्थित हैं। इनमें से निम्नलिखित क्षेत्र माने जाते हैं :—

(१) गोदावरी वर्धा क्षेत्र, (२) सतपुड़ा क्षेत्र, (३) महानदी

क्षेत्र, (४) छत्तीसगढ़-रीवाँ क्षेत्र, (५) सोन पालामऊ क्षेत्र, (६) दामोदर घाटी और (७) पूर्वी हिमालय की तराई।

इस समय सबसे अधिक कोयला निम्न क्षेत्रों में निकाला जाता है :—

बंगाल में रानीगंज, बिहार में झरिया, बोकारो, करनपुर और गिरीड। रीवाँ में रीवाँ, कोरिया, हैदराबाद और तलछर की रियासतों में भी काफी कोयला निकाला जा रहा है। मध्य-प्रदेश में सबसे अधिक पंच और कन्हन घाटी और वर्धा की घाटी में अधिक कोयला निकाला जाता है। कुछ वर्षों से आसाम, पंजाब और राजपूताना में भी कोयले की खानों पर ध्यान दिया जा रहा है। गोंडवाना क्षेत्र का कोयला क्षेत्र भी निम्न प्रकार से वर्गीकृत किया गया है।

(१) बिहार के कोयला क्षेत्र—इसमें राजमहल, देवगढ़, हजारीबाग, और दामोदर घाटी सम्मिलित हैं। झरिया का क्षेत्र इसमें सबसे अधिक महत्वपूर्ण है और सारे देश के कोयले के उत्पादन का लगभग आधा भाग झरिया के क्षेत्रों से निकाला जाता है। यह क्षेत्र लगभग १७५ वर्गमील में फैला हुआ है। बाराकर और रानीगंज क्षेत्र में भी कुछ वर्षों से अच्छी प्रगति हो रही है।

(२) बंगाल और बिहार के कोयला क्षेत्र—इनमें रानीगंज और दार्जलिंग के क्षेत्र सम्मिलित हैं। रानीगंज की खानों का क्षेत्र लगभग ४२२ वर्गमील के क्षेत्र में फैला हुआ है; और देश के कुल उत्पादन का २५ प्रतिशत भाग इसी क्षेत्र में होता है।

(३) उड़ीसा के क्षेत्र—इसमें तलछर की खानें, रामपुर और हिन्गिर के कोयला क्षेत्र शामिल हैं। तलछर का क्षेत्र लगभग २२ वर्गमील में फैला हुआ है। हिन्गिर का क्षेत्र अभी तक नापा नहीं गया है, परन्तु अनुमान है कि यह क्षेत्र भी बहुत बड़ा हो सकता है।

(४) दक्षिण रीवां का क्षेत्र—इस क्षेत्र में सिगरौली की खानें सबसे अधिक प्रसिद्ध हैं जो लगभग ६०० वर्गमील के क्षेत्र में फैली हुई हैं। परन्तु सिगरौली के क्षेत्र में यातायात साधनों की सुविधा नहीं है। अतः जब तक इस क्षेत्र में रेलवे लाइन नहीं बन जाती, कोयले की खानों का औद्योगिक उपयोग संभव नहीं है। रीवां क्षेत्र में सोहागपुर की कोयले की खानें भी बहुत महत्वपूर्ण हैं। परन्तु इनका उपयोग भी रेल बन जाने पर ही हो सकता है।

(५) मध्यप्रदेश के क्षेत्र—इनमें छत्तीसगढ़, सतपुड़ा और वर्धा की घाटी मुख्य हैं। वर्धा की घाटी में विशेषकर ६ ऐसी खानें हैं जिनका यदि विकास किया जाय तो मध्य प्रदेश में कोयले का उत्पादन बहुत बढ़ सकता है। सतपुड़ा के क्षेत्र में शाहपुर, मोनपानी, कन्हन और पंचघाटी विशेष उल्लेखनीय स्थान हैं। छत्तीसगढ़ क्षेत्र में लगभग १५ कोयले की खानें हैं, जिनमें सबसे मुख्य कोरबा का क्षेत्र है। परन्तु मध्य प्रदेश में रेल यातायात की अभी इतनी कमी है कि यहाँ कोयले का सबसे बड़ा क्षेत्र होते हुए भी उत्पादन इतना अधिक नहीं है।

(६) गोदावरी घाटी—इस क्षेत्र में सबसे महत्वपूर्ण स्थान कामठी, वर्धा की घाटी, और मद्रास प्रांत का उत्तरी भाग सम्मिलित है।

(७) उत्तर प्रदेश के कोयला क्षेत्र—दक्षिणी रीवां का सिंगरौली क्षेत्र आगे बढ़कर उत्तर प्रदेश के मिर्जापुर जिले में दिखाई पड़ता है। परन्तु उत्तर प्रदेश में कोयला क्षेत्रों का अभी तक कोई खास अनुमान नहीं लगाया है।

कोयला उद्योग का इतिहास

प्राचीन काल से ही हमारे देश में खानों से कोयला निकाला जाता रहा है। परन्तु जितनी मात्रा निकाली जाती थी वह केवल स्थानिक

उपयोग के लिये होती थी। कोयला निकालने की क्रिया बहुत ही सरल थी। कोयले का अनेक प्रकार से उपयोग होता था। परन्तु आधुनिक काल की सी खाने प्राचीन समय में नहीं थी। कोयले का औद्योगिक उपयोग भी बहुत ही सीमित मात्रा में होता था। प्राचीन काल में कोयले का व्यापार नाम मात्र को भी नहीं था। आधुनिक प्रणाली से सब से पहले १७७४ में रानीगंज के क्षेत्र में कोयले की खान पर कार्य आरंभ हुआ था। परन्तु यह प्रथम प्रयास कुछ वर्षों में ही असफल सिद्ध हुआ और खानों पर कार्य बन्द हो गया। इस प्रारंभिक असफलता का मुख्य कारण यातायात साधनों की कमी थी। रानीगंज की खानों से कलकत्ते तक कोयला भेजने का केवल एक ही साधन था। दामोदर नदी में जहाज में भरकर कलकत्ते तक कोयला भेजा जाता था। परन्तु दामोदर नदी में गहरा पानी न होने के कारण अनेक बार नौका संचालन का कार्य बन्द हो जाता था। इसलिये कोयले की माँग होते हुए भी कोयले के उद्योग का १८५५ तक विशेष विकास नहीं हो पाया। १८५५ में रानीगंज के क्षेत्र में रेल यातायात का विकास हुआ और कोयले की माँग में वृद्धि हुई। इस क्षेत्र में रेल फैल जाने के कारण खानों से कारखानों तक कोयला पहुँचाने की सुविधा हो गई। दूसरी ओर रेल यातायात के लिये कोयले की ज़रूरत बढ़ी। १८६० में लगभग ५० खानों से कोयला निकाला जा रहा था। देश में ज्यों-ज्यों रेल यातायात का विकास होता गया खानों से कोयला निकालने की आवश्यकता बढ़ती चली गई।

प्रारंभिक काल में केवल रानीगंज क्षेत्र का ही महत्व था। कोयले उत्पादन का अधिकांश भाग इसी क्षेत्र से निकाला जाता था। परंतु धीरे-धीरे अन्य क्षेत्रों का भी महत्व बढ़ता गया। १८९४ में झरिया के क्षेत्र में भी कोयले की खाने उपयोग में लाई गई। आरंभ में झरिया का क्षेत्र कोई महत्व का क्षेत्र नहीं था; परंतु

रेलवे के विकास के कारण उसका महत्व रानीगंज से भी अधिक हो गया। १६०६ में रानीगंज की अपेक्षा झरिया में अधिक कोयला उत्पन्न होने लगा। रानीगंज और झरिया के अतिरिक्त देश के अन्य भागों में भी खानों से कोयला निकाला जाने लगा। मध्य प्रदेश में सबसे पहले १८६२ में कोयले की खानों पर काम होने लगा; और लगभग इसी समय रीवां की खानों में भी कोयला निकालना आरंभ हो गया था। प्रथम महायुद्ध के पूर्व कोयले के उद्योग का प्रारंभ काल ही समाप्त हुआ था।

प्रथम महायुद्ध के कारण कोयला उद्योग को विशेष प्रोत्साहन मिला। देश में उद्योग-धंधे तेजी के साथ बढ़ रहे थे। रेलों को भी कोयले की अधिक आवश्यकता हुई और विदेशों में युद्धस्थल तक भारतीय कोयले की आवश्यकता पड़ने लगी। युद्धकाल में बड़ी तेजी के साथ नई खानें खोदी गईं और पुरानी खानों में अधिक कोयले का उत्पादन होने लगा। युद्धकाल भारतीय कोयला उद्योग के लिए बहुत ही उपयुक्त सिद्ध हुआ। परंतु ज्यों ही प्रथम महायुद्ध समाप्त हुआ, उद्योग की स्थिति बिगड़नी आरंभ हुई। १६२० से १६२६ तक एक ओर कोयले के उत्पादन में ह्रास हो रहा था परंतु दूसरी ओर कोयले का मूल्य बढ़ता जा रहा था। साधारण रूप से युद्ध समाप्त होते ही कोयले के उत्पादन में एकदम इतनी कमी नहीं हो जानी चाहिये थी और विशेषकर कोयले के बढ़ते हुए मूल्य की स्थिति में उत्पादन घटना सङ्गठन की दृष्टि से उद्योग की कमजोरी का सबूत था।

१६२६ से १६३७ तक कोयले के उत्पादन में वृद्धि हुई। धीरे-धीरे उद्योगपतियों को अच्छा लाभ मिलने लगा। परन्तु तुरंत ही १६२६ से मंदी आरम्भ हो गई। कोयले की मांग घटने लगी। मूल्य में भी अन्य वस्तुओं के समान ह्रास हुआ। बहुत सी छोट

छोटी खानें जो वास्तव में अलाभकारी कही जा सकती थीं, केवल युद्ध के कारण खोली गई थीं। मंदी के समय में इस प्रकार की बहुत सी खानें बन्द हो गईं। उत्पादन भी घटा और उद्योगों की प्रगति को जबरदस्त धक्का लगा। उद्योग को सहायता देने के लिये सरकार ने साधारण प्रयत्न किये, परन्तु वह उद्योग को गिरी हुई अवस्था से ऊँचा नहीं उठा सकी। बड़े-बड़े कारखाने मंदी के समय में केवल अपने को कायम रखने की दृष्टि से कोयले का उत्पादन करते रहे परंतु गिरते हुये मूल्य के कारण इनका उत्पादन व्यय बहुत अधिक था। इसकी पूर्ति करने के लिए बड़े-बड़े कारखानों ने खानों से बहुत अधिक मात्रा में बिना किसी रोक-टोक के हर प्रकार का कोयला निकालना आरम्भ कर दिया। इसके कारण कोयले का उत्पादन बढ़ा जिससे कोयले के मूल्य पर अहितकारी प्रभाव पड़ा। इससे कोयले के मूल्य और भी घट गये। इसलिए १६२६ को मंदी भारतीय कोयला उद्योग के इतिहास में सबसे निकृष्ट समय माना जाता है। मंदी का प्रभाव बड़ी कठिनाई से १६३६-३७ तक दूर हो सका।

१६३६ में द्वितीय महायुद्ध आरम्भ होने से कोयले के उद्योग को फिर से विकसित होने का समय मिला। युद्धकाल में रेलों के लिए कोयले की माँग बहुत बढ़ गई थी और इस समय देश में हजारों औद्योगिक कारखाने भी खुल गये थे। भारतवर्ष को सैनिक सामग्री बनाने का कुछ अंशों में उत्तरदायित्व लेना पड़ा। इसलिए देश भर में कल-कारखाने बहुत तेजी से चलने लगे और कोयले की माँग बढ़ती चली गई। १६४२ तक जैसे-तैसे करके देश की कोयले की आंतरिक माँग पूरी की जा सकी। कोयले के उत्पादन में भी वृद्धि हुई, परन्तु कोयले की माँग इतनी अधिक हो गई थी कि उसका पूरा करना भारत की खानों के लिए संभव नहीं था।

१९४५-४७ में सारे देश में कोयले की कमी हो गई। बहुत से स्थानों में कोयला न पहुँचने के कारण औद्योगिक कारखाने बन्द हो गये। रेलवे को भी कोयले की खपत में किफायत करनी पड़ी। इस कमी का मुख्य कारण एक ओर कोयले की माँग का बढ़ना तथा दूसरी ओर उद्योग की उत्पादन शक्ति में ह्रास होना है। युद्धकाल में खानों से कोयला अधिक मात्रा में निकाला जा रहा था। कोयला निकालने में कल-पुरजे और मशीनें युद्धकालीन कार्य के कारण काफी घिस चुकी थीं। उनके स्थान पर नये कल-पुरजे या मशीनें नहीं लगाई जा सकती थीं। इसके साथ ही उद्योग में श्रम की कमी होने लगी थी। श्रमिक कोयला उद्योग से हटकर सैनिक कारखानों में नौकरी करने लग गये थे और बहुत से क्षेत्रों में जापानी हमलों के डर से स्थान छोड़कर भी भाग गये थे।

एक और कठिनाई उद्योग को युद्धकाल में उठानी पड़ी। खानों से कारखानों तक कोयला पहुँचाने के लिये काफी संख्या में रेल के डिब्बे उद्योग को नहीं मिलते थे। डिब्बों की कमी के कारण बहुत सी खानों पर खोदा हुआ कोयला इकट्ठा हो गया था। इसका प्रभाव भी कोयले के उत्पादन पर अहितकर हुआ। कारखानों तक कोयला पहुँचाने की सुविधा के अभाव में कोयले के उद्योगपति अधिक उत्पादन करने के लिए तैयार नहीं थे। इसलिए उत्पादन बढ़ने के बदले घटना आरम्भ हो गया।

कोयला उद्योग का सङ्गठन

अधिकार की दृष्टि से कोयला उद्योग तीन श्रेणियों में बाँटा जा सकता है।

(१) इसमें वे खानें आती हैं जिन पर कोयले के उपभोक्ताओं का स्वामित्व है। ऐसी बहुत सी खानें हैं जिन पर रेलवे या लोहे के

कारखानों का अधिकार है। कोयला उद्योग आरम्भ होने के समय रेलवे की कंपनियों ने ही पहले कोयला खोदना आरम्भ किया था। इस प्रकार की खानों की संख्या अधिक नहीं हैं। देश के कुल कोयला उत्पादन का लगभग ११ प्रतिशत भाग इस प्रकार की खानों से निकाला जाता है परन्तु इन खानों की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि उत्पादक और उपभोक्ता दोनों ही एक संस्था हैं। इससे उद्योग का सङ्गठन बड़ा सरल हो जाता है और मध्यस्थों की संख्या बहुत कम हो जाती है।

(२) इस श्रेणी में वे खाने आतीं हैं जिन पर मैनेजिंग ऐजेन्ट्स (Managing Agents) का अधिकार है। इनमें पूँजी कोयले के उद्योगपतियों की ही नहीं, वरन् ऐसी कंपनियों की भी पूँजी लगी हुई है जो दूसरे उद्योग पर भी अधिकार रखती हैं। इसमें कुछ ऐसे उद्योगपति भी हैं जो स्वयं कोयले का उद्योग करते हैं। परन्तु अधिकांश में मैनेज़िंग एजेन्ट्स दूसरे उद्योगपतियों या दूसरे उद्योगों का प्रतिनिधित्व करते हैं। भारत की अधिकांश खानों पर मैनेजिंग ऐजेन्सी का ही हाथ है। लगभग कुल उत्पादन का ७१ प्रतिशत भाग इस प्रकार की खानों से ही निकाला जाता है। मैनेजिंग ऐजेंट्स "इंडियन माइनिंग एसोसियेशन" नामक संस्था के सदस्य हैं। इस संस्था में सबसे प्रभावशाली सदस्य ब्रिटिश उद्योगपति हैं। देश स्वतंत्र होने के पूर्व वास्तव में कोयला उद्योग में सबसे अधिक प्रभाव ब्रिटिश पूँजीपतियों का ही था। मैनेजिंग ऐजेन्ट्स से कुछ लाभ अवश्य हैं जैसे इस प्रकार के सङ्गठन के पास साधन अधिक होते हैं, वैज्ञानिकों और विशेषज्ञों की सेवाएँ उन्हें अधिक उपलब्ध हो सकती हैं और अधिक समृद्धिशाली होने से कोयले की दरों पर भी उनका प्रभाव होता है। छोटी-छोटी खाने जिनका विकास करने में अधिक पूँजी लगती है, इस प्रकार के सङ्गठन के अन्तर्गत

अधिक जल्दी लाभ अर्जित कर सकती हैं। परन्तु इसका दूसरा पक्ष भी है।

अब तक मैनेजिंग एजेन्ट्स ने उद्योग के व्यापारिक पक्ष पर ही ध्यान दिया है। देश की खनिज सम्पत्ति का संरक्षण या वैज्ञानिक उपयोग इनके लिये कोई विशेष महत्व नहीं रखता। लाभवृत्ति से प्रेरित होकर वे कोयले की खानों का वास्तव में शोषण करते हैं। यांत्रिक प्रगति की दृष्टि से भी इन ऐजेन्टों ने कोई विशेष कार्य नहीं किया है। खान में भीतर सुरक्षा का प्रबन्ध सबसे महत्वपूर्ण होता है परन्तु इन्होंने इस ओर विशेष ध्यान नहीं दिया। भारत की खानों के भीतर सुरक्षा का प्रबन्ध पुराने तरीके का और खतरनाक है। इसी प्रकार कोयला काटने की रीति और खान के भीतर से कोयला उठाने की रीति बहुत ही साधारण तरीके की है। इसमें श्रम का अपव्यय होता है। यथार्थ में मैनेजिंग ऐजेन्सी के अंतर्गत भारतीय खानों का विकास रुका हुआ है।

(३) इस श्रेणी के अंतर्गत ऐसी छोटी-छोटी खानें हैं जिन पर वैयक्तिक अधिकार है। ये दूर-दूर के क्षेत्रों में फैली हुई हैं। कुल कोयला उत्पादन का १७ प्रतिशत इस प्रकार की खानों से निकाला जाता है। प्रत्येक अवस्था में इस प्रकार की खानों के अधिकारी कोयले के उद्योगपति नहीं होते। अन्य उद्योग-धंधों से सम्बन्धित व्यापारी भी कोयले की खान खरीद लेते हैं या स्वयं चलाते अथवा दलालों को वहाँ नियुक्त कर देते हैं। कुछ खानें पट्टे पर उठा दी जाती हैं। इस प्रकार की खानों के साधन कम होते हुये भी उनका संगठन इतना पिछड़ा नहीं है। उत्पादन कला की दृष्टि से तथा संगठन की दृष्टि से वैयक्तिक खानें मैनेजिंग ऐजेन्सी वाली खानों से मुकाबला कर सकती हैं; परन्तु भविष्य में खनिज सम्पत्ति में वैयक्तिक अधि-

कार किस हद तक रखा जावेगा, यह संदिग्ध बात है। अतः वैयक्तिक अधिकार वाली खानों का भविष्य भी संदिग्ध है।

खानों में पट्टेदारी की प्रथा

उद्योग के सङ्गठन की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि कोयले की खानों पर न तो राज्य का अधिकार है और न पूर्ण रूप से जमींदारों का। सारे देश में अधिकार के सम्बन्ध में समान व्यवस्था नहीं है। बङ्गाल और बिहार के स्थायी बन्दोबस्त वाले क्षेत्र में कोयले की खानों पर स्वामित्व जमींदारों का है। वे इन खानों को मनमाने दर तथा मन चाहे तरीके पर पट्टे पर उठा देते हैं। यह प्रथा इतनी त्रुटिपूर्ण है कि इससे उद्योग का विकास रुक जाता है। भारत के अन्य क्षेत्रों में कोयले की खानों पर राज्य का अधिकार होता हैं। परंतु इन क्षेत्रों में भी अधिकार शुल्क (Royalty) सारे देश में बराबर नहीं है। इसके फलस्वरूप सारे देश के कोयला क्षेत्र उत्पादन व्यय की दृष्टि से समान स्थिति में नहीं हैं। पट्टे की प्रथा में एक और दोष है। अधिकतर पट्टे की अवधि २० से ३० वर्ष की होती है। कोयले के उद्योग की विशेषताएँ देखते हुए यह अवधि थोड़ी है। खान की विकास के लिये पूँजी की आवश्यकता है। उस प्रदेश के यातायात साधनों का विकास आवश्यक है और वैज्ञानिक दृष्टि से उत्पादन कला का भी विकास करना होता है। इन सबके लिये लंबी अवधि की आवश्यकता है। कुछ क्षेत्रों में अधिकतर शुल्क की दर में इतना अंतर है कि छोटी-छोटी खानें बड़ी खानों से प्रतिस्पर्धा नहीं कर सकतीं। इससे ऐसे क्षेत्रों का कभी विकास नहीं हो सकता जहाँ खान के प्रारंभिक कार्य में अधिक व्यय होने की सम्भावना है।

पट्टेदारी प्रथा का एक दुष्परिणाम यह भी हुआ है कि कोयला

क्षेत्रों का अधिकार छोटे-छोटे टुकड़ों में बट गया है। जिस प्रकार कृषि भूमि का अपखंडन कृषि को अलाभकारी बना देता है उसी प्रकार यदि एक बड़ी खान के, छोटे-छोटे टुकड़ों में बाँटे जाने से वे छोटी-छोटी खानें अलाभकारी बन जाती हैं। क्योंकि उनका उत्पादन व्यय बढ़ता है। स्थायी बन्दोबस्त वाले क्षेत्रों में जहाँ जमींदार लोग अपनी इच्छानुसार खानें पट्टे पर लेते हैं, इसी प्रकार की परिस्थिति है। इससे भविष्य में खान के पट्टों का नियमन आवश्यक है और पुराने पट्टों के खतम होने पर इस प्रकार की छोटी खानों के लिये पट्टा देने की राज्य को आज्ञा नहीं देना चाहिये।

कोयले की खानों में श्रम

संख्या की दृष्टि से कोयले की खानों में अन्य सभी प्रकार की खानों की अपेक्षा सबसे अधिक श्रमिक हैं। भारत की खानों में लगभग ३½ लाख मजदूर काम करते हैं। श्रमिकों की यह संख्या अमरीका के कोयले की खानों के श्रमिकों से कई गुना है, परन्तु फिर भी प्रति श्रमिक कोयले का उत्पादन भारत में बहुत कम है। अमरीका में भारत से उत्पादन कई गुना होते हुये भी वहाँ की खानों में इतने कम मजदूरों से काम चल जाने का कारण उद्योग का यंत्रीकरण है। भारतवर्ष में श्रमिकों की संख्या तो उद्योग की बढ़ती है परन्तु प्रति श्रमिक कोयले के उत्पादन में कमी होती चली जा रही है। इसका मुख्य कारण केवल यंत्रों के उपयोग का अभाव ही नहीं है वरन् भारतीय श्रमिक की कम उत्पादन कुशलता भी है। उसे किसी भी प्रकार की यांत्रिक शिक्षा नहीं मिली है और वह कार्य में रुचि भी नहीं रखता। कोयले की खानों में मजदूर बहुधा आस-पास के गाँवों के कृषक होते हैं। खानों में काम करने के बाद भी उनकी मनोवृत्ति कृषक की सी ही रहती है। ज्यों ही वह थोड़ा बहुत कमा लेता है

उसे वापिस गाँव भागने की पड़ती है। इससे कारखानों की अनुपस्थिति बहुत अधिक है। इसके कारण उद्योग का सङ्गठन विकसित नहीं हो पाता। कोयले की खानों के मालिक भी श्रमिक की कुशलता पर इतना अधिक ध्यान नहीं देते। अनेक खानों में शिफ्ट बन्द कर दिये जाते हैं। मजदूरों को आवश्यक सुविधाएँ नहीं दी जातीं और खानों के भीतर जिस प्रकार का वैज्ञानिक प्रबन्ध रहना चाहिये वह नहीं किया जाता है। इससे स्वभावतः श्रमिक निरुत्साहित हो जाता है। देहातों से किसान अपनी आर्थिक परिस्थितियों से मजबूर होकर खानों में काम करने आता है। यदि खानों में ही उसे संतोषजनक आय और सामाजिक वातावरण मिल जाय तो उसकी अनुपस्थिति भी कम हो सकती है। श्रमिक कल्याण का महत्व ध्यान में रखते हुए सरकार ने ऐसे अनेक कानून पास किये हैं, जो कोयले की खानों के मजदूरों की भृत्ति दर, मकानों का प्रबन्ध, मलेरिया क्षेत्रों में दवाई का प्रबन्ध और अन्य सुविधाओं का नियमन करते हैं। परन्तु फिर भी कोयले की खानों के मजदूरों की स्थिति में सुधार करना आवश्यक है।

कोयला उद्योग का भविष्य

कोयले का देश के औद्योगिक विकास में इतना महत्व है कि उसका उपयोग कोई भी देश मनमाने तरीके से नहीं कर सकता। भारत को औद्योगीकरण की बड़ी-बड़ी योजनाएँ कार्यान्वित करनी हैं। यद्यपि भारत में अभी कोयले की उत्पत्ति वर्तमान आवश्यकता को देखकर कम नहीं है, परन्तु इसके साथ ही कोयले की सम्पत्ति इतनी अधिक भी नहीं है कि हम उसे लापरवाही से उद्योग में लाते रहें। ज्यों-ज्यों उद्योगों की संख्या देश में बढ़ेगी, कोयले की माँग बढ़ेगी। इससे भविष्य में हमें कोयले का उपयोग बड़ी सावधानी

से करना चाहिये। हमें अपनी कोयले की सम्पत्ति का संरक्षित रूप से उपयोग करना चाहिये। कोयले का संरक्षण हम तीन प्रकार से कर सकते हैं :—

(१) विभिन्न प्रकार के कोयले का उपयोग निश्चित कर देना चाहिये जिससे, जिस औद्योगिक उपयोग में, जो कोयला काम में आ सकता है, उसका ही उपयोग किया जाय। उदाहरण के लिये, जहाँ निकृष्ट प्रकार के कोयले से काम चल सकता है, वहाँ अच्छे प्रकार के कोयले का उपयोग रोक देना चाहिये।

(२) खानों से कोयला इस प्रकार का निकाला जाना चाहिये जो उपभोक्ताओं की आवश्यकताओं की पूर्ती कर सके। कोयले की खानों का शास्त्रीय रीति से उपयोग करना आवश्यक है।

(३) खानों से कोयला निकालने के तरीकों में भी सुधार करने की आवश्यकता है जिससे कोयला उत्पादन में वृद्धि हो सके।

पहले दो प्रकार के उपायों से कोयले के उत्पादन पर प्रभाव पड़ेगा और अंतिम उपाय के द्वारा जो कोयला उत्पादन में इस समय अपव्यय होता है, उसे रोका जा सकेगा। पिछले कुछ वर्षों से भारत सरकार ने कोयले के अपव्यय को रोकने के संबंध में कुछ कानून पास किये हैं। आशा की जाती है कि इनके फलस्वरूप अपव्यय में कुछ कमी हो जायगी। इस संबंध में १९४६ की कोयला समिति ने भी बहुत सी महत्वपूर्ण सिफारिशें की हैं। कोयला क्षेत्र में सबसे अधिक आवश्यकता बिजली पहुँचाने की है। बिजली पैदा करने में जो-जो कोयला खर्च होगा उससे कोयले के उत्पादन में सुधार होगा और कोयले में बचत भी हो सकेगी। इसके साथ ही देश में उद्योग-धन्धे भी तेजी के साथ बढ़ सकेंगे। विशेषज्ञों ने अनुमान लगाया है कि एक मील रेलवे लाइन का विद्युत-करण करने से प्रति वर्ष लगभग ८०० टन कोयले की बचत

हो सकती है। दामोदर घाटी के क्षेत्र में बहुमुखी योजना समाप्त होने पर काफी मात्रा में बिजली मिल सकेगी। आशा की जाती है कि इस योजना के फलस्वरूप लगभग २५ लाख टन्न कोयले की प्रति वर्ष बचत हो सकेगी। कुछ नये कोयला क्षेत्र का भी विकास करना जरूरी है। कोयला समिति ने इस संबंध में भी अपने सुझाव रखे हैं। नागपुर के समीप कामठी का कोयला क्षेत्र महत्वपूर्ण है। इसी प्रकार दक्षिण में अर्काट के जिले में बड़ी सरलता से खानें खोदी जा सकती हैं। रीवाँ रियासत के कोरार नामक स्थान में भी अच्छी खानें आरंभ की जा सकती हैं। मध्य-प्रदेश के बैतूल जिले में पलहा खेड़ा नामक स्थान में, बिलासपुर के कोरबा नामक स्थान में और बिहार के हूलर नामक स्थान में खान खोदने का काम आरंभ किया जा सकता है।

कोयला उद्योग के सामने राष्ट्रीयकरण की समस्या एक महत्वपूर्ण विषय है। संसार के प्रायः सभी मुख्य देशों में कोयले के राष्ट्रीयकरण को सिद्धांत रूप से मान लिया है। कुछ वर्षों से इंग्लैंड में कोयले की खानों का राष्ट्रीयकरण हो ही चुका है। फ्रान्स, जर्मनी तथा बेल्जियम के कोयला क्षेत्रों के बारे में "Schuman Plan" के अंतर्गत राजकीय नियंत्रण प्रायः आवश्यक बन गया है। रूस में सभी खानों पर राज्य का अधिकार है। राज्य के द्वारा ही उनका संचालन होता है। हमारे देश में भी सिद्धान्त रूप से खानों का राष्ट्रीयकरण प्रायः सभी विशेषज्ञ मानते हैं। बंबई योजना, गाँधीवादी योजना, और पीपुल्स योजना ने कोयले की खानों का राष्ट्रीयकरण करना स्वीकार किया है। इसी प्रकार प्लानिंग एडवाइज़री बोर्ड की रिपोर्ट में भी इसे स्वीकार किया गया है। परन्तु भारत सरकार द्वारा घोषित ६ अप्रैल १९४९ की औद्योगिक नीति के अनुसार अभी १० वर्षों तक कोयले की खानों पर कोयले के उद्योगपतियों

का ही आधिपत्य रहेगा। १० वर्ष बाद उद्योग की स्थिति पर फिर से विचार होगा और उस समय की परिस्थिति को देख कर ही कोयले की खानों का राष्ट्रीयकरण होगा। परन्तु १९४६ की कोयला समिति ने कोयले की खानों का राष्ट्रीयकरण करने की सलाह नहीं दी। इससे यह प्रतीत होता है कि सिद्धान्त रूप से राष्ट्रीयकरण को मान लेने पर भी अभी हम कोयला उद्योग का राष्ट्रीयकरण नहीं कर सकते। वास्तव में यह अभी इसके विकास का काल है। उसके लिये अतुल पूँजी की आवश्यकता है। और यदि राष्ट्रीयकरण भी कर दिया जाय तो उद्योगपतियों को बहुत बड़ी धन की राशि हानि-पूरण में देनी पड़ेगी। इस आर्थिक कठिनाई के सिवाय अभी शासन के पास इस प्रकार के संगठित विभाग नहीं हैं जो खानों का उपयोग उतनी ही कुशलता से कर सकें। इसलिये यदि राष्ट्रीयकरण में जल्दी की गई तो कुछ समय के लिये उत्पादन में कमी हो सकती है। परन्तु फिर भी इतने महत्वपूर्ण उद्योग को वैयक्तिक आधिपत्य में छोड़ना विकास योजनाओं की दृष्टि से हितकर न होगा। अतः आगे चल कर इसका राष्ट्रीयकरण अवश्यम्भावी है। इसमें कुछ समय लग सकता है परन्तु वह अन्त में चल कर शासन को करना ही होगा।

शक्कर का उद्योग

चीनी या शक्कर का बनाना सबसे पहले भारत में आरंभ हुआ। अन्य देश जब शक्कर का नाम और उपयोग भी नहीं जानते थे तब भारत में शक्कर और गुड़ काफी बनाया जाता था। योरोपीय देशों में प्राचीन काल में शक्कर के स्थान पर शहद का उपयोग होता था। उस समय भारत में चीनी या गुड़ देश के प्रायः प्रत्येक कोने में पाया जाता था। देश के प्राचीन काल में ऐसा भी समय था जब कि भारत इतनी शक्कर पैदा करता था कि देश की आवश्यकताओं को पूरा करके वह विदेशों को भी उसका निर्यात कर सकता था। इतिहास से पता चलता है कि मध्यकालीन युग के प्रारंभिक काल में योरोपीय देशों को भारत से शक्कर जाती थी। परन्तु विदेशों में ज्यों-ज्यों शक्कर बनाने की क्रिया का विकास होता गया, और विशेषकर योरोपियन उद्योगपतियों ने जावा और सुमात्रा में जाकर शक्कर के उद्योग का विकास किया तो भारत के प्राचीन शक्कर के उद्योग को जावा और सुमात्रा की शक्कर की प्रतिस्पर्धा का सामना करना पड़ा। जावा में विदेशी पूँजी-पतियों ने इतनी अधिक पूँजी लगाई और वहाँ पर प्रति एकड़ उत्पादन गन्ने का इतना अधिक बढ़ा दिया कि जिससे प्रति टन उत्पादन का व्यय जावा के उद्योग में बहुत कम हो गया। धीरे-धीरे जावा की शक्कर भारत के बाजार में बिकने लगी और भारतीय उद्योग को उससे हानि होने लगी। प्रथम महायुद्ध आरंभ होने के पूर्व भारत के शक्कर के उद्योग और जावा के शक्कर के उद्योग में बड़ी तीव्र स्पर्धा थी। प्रथम महायुद्ध आरंभ होने पर यातायात

की कुछ कठिनाई हुई और इसके कारण विदेशों से शक्कर का आयात कुछ कठिन हो गया। युद्धकालीन परिस्थितियों के कारण भारतीय उद्योग को कुछ प्रोत्साहन मिला, परन्तु यह प्रोत्साहन अस्थायी था। युद्ध समाप्त होते ही जावा से शक्कर फिर आने लगी और बाजार में दोनों में बहुत अधिक प्रतिस्पर्धा हो गई।

१९२९ की मंदी का प्रभाव शक्कर के उद्योग पर भी बहुत बुरा पड़ा। गन्ने का भाव बहुत कम होता जा रहा था, बाजार में शक्कर भी गिरती चली जा रही थी। देश में एक प्रकार की आर्थिक कठिनाई उत्पन्न हो गई थी। उद्योग अभी देश में जम नहीं पाया था, परन्तु देश में उद्योग के लिये कच्चा माल, मजदूर और बाजार विद्यमान थे। इसलिये भारत सरकार ने उद्योग को १६ साल के लिये संरक्षण प्रदान किया।

भारत सरकार ने संरक्षण के समय कोई विशेष शर्तें नहीं लगाईं, इसलिये उद्योग काफी तेजी के साथ उन्नति कर सका। संरक्षण के काल में शक्कर के कारखानों में ४०० प्रतिशत उन्नति हुई और शक्कर के उत्पादन में ७०० प्रतिशत वृद्धि हुई। भारत में लगभग ४० लाख टन शक्कर विदेशों से आती थी। वह घट कर केवल १२ हजार टन रह गई। इस प्रकार शक्कर के आयात में भी काफी कमी हुई। संरक्षण के कारण उद्योग में सर्वांगीण उन्नति हुई है। इस समय उद्योग भारत के लिये प्रायः आवश्यक शक्कर का उत्पादन कर रहा है। लगभग ३० करोड़ की पूंजी इस उद्योग में लगी हुई है। ५० लाख मजदूर और ३ हजार कुशल या वैज्ञानिक श्रमिक लगे हुए हैं। लगभग २ करोड़ किसान गन्ने की खेती करते हैं। महत्व की दृष्टि से कपड़े के उद्योग को छोड़ कर शक्कर के उद्योग का द्वितीय स्थान है और सारे संसार में भारत गन्ने की शक्कर सबसे ज्यादा बनाने वाला देश है। भारत में गन्ने

किया है, परन्तु अच्छी प्रकार की फसल के लिये किसानों के पास साधन न होने के कारण उसकी प्रगति रुक जाती है।

(३) गन्ने की खेती के लिये पानी की सबसे अधिक आवश्यकता होती है। फसल लगभग ८-९ माह में तैयार होती है, इसलिये पानी अधिक मात्रा में नहीं परंतु अधिक लंबे समय तक भी चाहिये। उत्तर प्रदेश के कुछ क्षेत्रों में ट्यूब वेल के द्वारा सिंचाई का प्रबन्ध किया गया है। परन्तु बहुत से क्षेत्र अभी भी ऐसे हैं जहाँ प्राकृतिक वर्षा के अतिरिक्त सिंचाई के और कोई साधन नहीं हैं।

गन्ने के उत्पादन में तभी वृद्धि हो सकती है जब कि अच्छी खाद, अच्छे बीज और सिंचाई का प्रबन्ध किया जाय।

गन्ने की अपर्याप्त तथा अनियमित पूर्ति—उद्योग की दूसरी समस्या पर्याप्त मात्रा में गन्ना समय पर उपलब्ध न होने की है। गन्ने की खेती बिहार और उत्तर प्रदेश में चीनी के कारखानों के आस-पास इस प्रकार हुई है कि कुछ कारखानों के पास तो आवश्यकता से अधिक गन्ना पैदा होता है और कुछ कारखानों की आवश्यकता भी पूरी नहीं होती। इस स्थानिक, अतिरिक्त उत्पादन या कमी के कारण उद्योग के लिये अनेक बाधाएँ खड़ी हो जाती हैं। जिन कारखानों को नजदीक के स्थान से गन्ना नहीं मिलता, उन्हें दूर से गन्ना मँगाना पड़ता है। यातायात का खर्च उन्हें अन्य कारखानों की अपेक्षा अधिक देना होता है, इसलिये उनका उत्पादन-व्यय बढ़ जाता है और वे बड़े कारखानों से प्रतिस्पर्धा नहीं कर सकते। इसका दूसरा प्रभाव भी पड़ता है दूर के स्थानों से गन्ना मँगाने से गन्ने के सूखने का डर रहता है जिससे उसकी शक्कर कम हो जाती है। इसलिये उत्पादन-व्यय और भी बढ़ने का डर रहता है। इस विषमता को दूर करने के लिये बिहार और उत्तर प्रदेश की सरकारों ने जो कुछ अब तक प्रयत्न किये हैं उनसे कोई विशेष सफलता नहीं

मिली। इस समस्या को सुलझाने के लिये गन्ने की खेती और शक्कर के कारखानों के नियमन की आवश्यकता है।

गन्ने की खेती का स्थानीकरण—तीसरी समस्या गन्ने की खेती के स्थानीकरण की है। भारत में गन्ना अधिकतर उत्तर प्रदेश और बिहार में ही बोया जाता है। किसी भी व्यापारिक फसल के स्थानीकरण होने से, संबंधित क्षेत्रों की कृषकीय व्यवस्था में संतुलन नहीं रहता। कृषकों में व्यापारिक फसल बोने की प्रवृत्ति जोर पकड़ लेती है। इसके साथ ही देश में औद्योगीकरण समान स्तर पर नहीं हो पाता। इस समय शक्कर के अधिकांश कारखाने उत्तर प्रदेश और बिहार में स्थित हैं, परन्तु शक्कर की खपत प्रायः सारे देश में होती है। इसका एक और भी विषम रूप हो सकता है। बिहार में शक्कर का उत्पादन सबसे अधिक है, परन्तु प्रति व्यक्ति उपभोग सबसे कम है और ठीक इससे विपरीत बंबई में प्रति व्यक्ति शक्कर का उपभोग सबसे अधिक है परन्तु उत्पादन उतना अधिक नहीं है। कुछ वर्षों से यद्यपि अन्य प्रान्तों में गन्ने की खेती होने लगी है, परन्तु उसकी प्रगति अभी बहुत धीमी है।

भविष्य में शक्कर के कारखानों का और उनके द्वारा गन्ने की खेती का केवल दो प्रान्तों में ही स्थानीकरण न हो, इसको रोकने के लिये संबंधित प्रांतीय सरकारों को अनुज्ञा प्रणाली (लायसेन्स सिस्टम) का उपयोग करना चाहिये। इससे शक्कर का उत्पादन विकेन्द्रित हो सकेगा। जहाँ गन्ने का प्रति एकड़ उत्पादन अधिक है, वहाँ स्वतः ही शक्कर के कारखाने खुलने आरंभ हो जायँगे। यह परिवर्तन कुछ होने भी लगा है। उत्तर प्रदेश में प्रति एकड़ उत्पादन लगभग १० टन है और बंबई प्रांत में लगभग ४० लाख टन है। दक्षिण में, बम्बई और मध्य भारत में अब शक्कर के कारखाने खुलने आरम्भ हो गये हैं।

शक्कर उद्योग एक मौसमी उद्योग है —गन्ने की खेती भारत में ऐसे समय में होती है, और इस प्रकार का गन्ना बोया जाता है कि पेरने का समय (Crushing period) बहुत छोटा होता है। उद्योग का कार्य सारे वर्ष भर नहीं चल सकता। उद्योग के अन्य सहायक धंधे भी ऐसे बढ़े हुए नहीं हैं जो कि उद्योग को सारे वर्ष भर चालू रख सकें। इसलिये शक्कर का उद्योग एक प्रकार से मौसमी उद्योग है। इसका प्रभाव उद्योग की आर्थिक स्थिति पर बहुत बुरा पड़ता है। साल में लगभग २-३ माह तक उद्योग में लगे हुये उत्पादन के साधन शिथिल पड़े रहते हैं। इस शिथिलता के समय में इन साधनों पर व्यय तो करना होता है परन्तु उत्पादन प्रायः बिलकुल नहीं होता। इसके कारण उत्पादन-व्यय उद्योग में बढ़ जाता है। इसलिये गन्ने की खेती के समय में और गन्ने की किस्म में परिवर्तन करने की आवश्यकता है, और उसके सहायक धंधों को भी विकसित किया जाना चाहिये; जिससे शक्कर के उद्योग में लगे हुए मजदूर जब कुछ समय के लिये बेकार हो जावें तो उन्हें सहायक उद्योग-धंधों में काम मिल सके।

उद्योग की उप-उत्पत्ति का दुरुपयोग —उद्योग की एक और भी गंभीर समस्या है। इस समय शक्कर के उद्योग में कुछ ऐसे पदार्थ बेकार फेंक दिये जाते हैं जिनका कि औद्योगिक उपयोग हो सकता है। जब प्रति एकड़ उत्पादन व्यय बढ़ रहा है और उद्योग मौसमी उद्योग है तो उत्पादन-व्यय को कम करने की आवश्यकता है, अर्थात् उत्पादन की आय बढ़ाने से ही उसकी लाभ-दर पूर्ववत् कायम रखी जा सकती है। गन्ने का रस निकालने के बाद जो उसके रेशे बच रहते हैं, उनका उपयोग कागज बनाने के काम में हो सकता है। लाखों टन इस प्रकार का पदार्थ इस समय व्यर्थ में फेंक दिया जाता है। इससे खाद भी तैयार की जा सकती है, जो कि गन्ने की

उपज बढ़ाने में सहायक हो सकती है। इसी प्रकार लाखों टन राब अधिकांश में बेकार फेंक दी जाती है; वह व्यर्थ नष्ट तो होती ही है परन्तु साथ-साथ उसका जन-स्वास्थ्य पर बहुत खराब असर पड़ता है। इसका उपयोग अनेक औद्योगिक वस्तुएँ बनाने में हो सकता है—उदाहरण के लिए पावर-अलकोहल इससे बड़ी आसानी से तैयार किया जा सकता है। इसका उपयोग सड़क बनाने के काम में भी हो सकता है। इससे कुछ रासायनिक पदार्थ भी तैयार किये जा सकते हैं। इससे करोड़ों रुपये की आमदनी शक्कर के उद्योग को हो सकती है।

Protection

शक्कर के उद्योग का संरक्षण

१६२६ में इंडियन कौंसिल ऑव एग्रिकल्चरल रिसर्च की "शुगर कमेटी" ने गन्ने की खेती पर सरकार से कुछ सिफारिशें कीं। इस समिति के अनुसार गन्ने की अच्छी किस्म की खेती १६२६ से इतने अधिक क्षेत्र में होने लगी थी कि यदि गन्ने का उपयोग शक्कर के कारखानों में न किया जाय तो गन्ने और गुड़ के भाव गिर जाने का डर था। इसके अतिरिक्त सारे कृषि पदार्थों के मूल्यों में कमी होती जा रही थी। इसलिये समिति ने सिफा-रिश की कि देश में शक्कर के उद्योग को राज्य की ओर से प्रोत्साहन मिलना चाहिये, ताकि गन्ने की खेती करने वाले किसानों को नुक-सान से बचाया जा सके। समिति की इस सिफारिश पर विचार करने के लिये भारत सरकार ने शक्कर उद्योग को संरक्षण देने के संबंध में टेरिफ बोर्ड की राय माँगी। टेरिफ बोर्ड ने अपना यह निश्चित मत दिया कि यदि निकट भविष्य में शक्कर उद्योग का विकास न किया जाय तो देश में अनावश्यक गन्ने की खेती होने लगेगी और कृषकों को इससे बड़ी हानि होगी। बोर्ड ने शक्कर उद्योग को संरक्षण देने की सिफारिश की।

इन सिफारिशों के अनुसार भारत सरकार ने शक्कर के आयात पर ६ रु०-४ आने प्रति हंडरवेट आयात कर लगाया। इस आयात करके अतिरिक्त २५ प्रतिशत अतिरिक्त कर (Surcharge) भी लगाया गया और उद्योग को १५ वर्ष के लिये संरक्षण दिया गया। संरक्षण देने के दो वर्ष पश्चात् ही देश में शक्कर का इतना अधिक उत्पादन हो गया और शक्कर का आयात विदेशों से इतना कम हो गया कि इस नई परिस्थिति से राज्य की आयात कर की हानि होने लगी। इस हानि को पूरी करने के लिये भारत-सरकार ने १ रु० ५ आने प्रति हंडरवेट उत्पादनकर (Excise duty) लगाया और इतनी ही राशि आयात कर में बढ़ा दी। संरक्षण के कारण उद्योग का बड़ी तेजी के साथ विकास हुआ। कुछ ही वर्षों में देश में शक्कर का आयात बहुत कम हो गया।

१६३७ में शक्कर के उद्योग को फिर से संरक्षण देने के प्रश्न पर विचार किया गया। सरकार ने एक टेरिफ बोर्ड नियुक्त किया जिसने संरक्षण के प्रभाव, संरक्षण को चालू रखने के प्रश्न पर, और उद्योग की समस्त परिस्थिति का अध्ययन किया। बोर्ड के मतानुसार संरक्षण के कारण उद्योग काफी समृद्धिशाली हो गया और विदेशी शक्कर का आयात बहुत कम हो गया था। बोर्ड ने संरक्षण को चालू रखने की सिफारिश की। उत्पादनकर के सम्बन्ध में बोर्ड ने अपना यह स्पष्ट मत दिया कि यह कर उद्योग की प्रगति में बाधक सिद्ध हो रहा है। इसके अतिरिक्त बोर्ड ने राजकीय नियम (State Regulation), आंतरिक संगठन और शक्कर के सहायक उद्योग-धन्धों का प्रोत्साहन देने की सिफारिश की। बोर्ड की इन सिफारिशों पर निर्णय देने में सरकार ने लगभग १ वर्ष लगाया और इस बीच में संरक्षण की अवधि दो वर्ष के लिये बढ़ा दी। १६३६ में सरकार ने उत्पाद कर संबंधी सिफारिशों और शक्कर

उद्योग के उत्पादन-व्यय के संबंध में बोर्ड को पुनर्विचार करने के लिये कहा और दो वर्ष के लिये पुनः संरक्षण की अवधि बढ़ा दी। द्वितीय महायुद्ध के समय में शक्कर के उद्योग को संरक्षण मिलता रहा है।

१९४७ में संरक्षण पर फिर से विचार करने का प्रश्न खड़ा हुआ। टेरिफ बोर्ड ने इस बार भी दो वर्ष का संरक्षण देने की सिफारिश की जिसके अनुसार राज्य ने फिर से उद्योग को संरक्षण दिया। परन्तु इस बार आयात कर में ८ आने प्रति हंडरवेट कमी कर दी गई। १९४९ में शक्कर के उद्योग की स्थिति पर विचार करने के लिये फिर से टेरिफ बोर्ड को कहा गया। बोर्ड ने फिर दो साल के लिये संरक्षण देने की अनुमति दी। परन्तु केन्द्रीय विधान सभा ने बोर्ड की इस सिफारिश को मंजूर नहीं किया और उद्योग को केवल १ वर्ष के लिये संरक्षण प्रदान किया गया। १९५० में भारत सरकार ने शक्कर उद्योग की अब तक की प्रगति, संरक्षण के प्रभाव, शक्कर के व्यापार और तत्संबंधी अव्यवस्था की पृष्ठ भूमि में संरक्षण पर विचार करने का आदेश दिया। टेरिफ बोर्ड ने तटस्थता के साथ सारे प्रश्न का विश्लेषण किया और संरक्षण को समाप्त करने की सिफारिश की। इस सिफारिश के अनुसार अप्रैल १९५० में भारत सरकार ने संरक्षण समाप्त कर दिया। इस प्रकार शक्कर उद्योग को लगभग १८ वर्ष तक संरक्षण की सुविधा मिलती रही है।

१९५० में संरक्षण समाप्त करने के टेरिफ बोर्ड ने जो कारण दिये वे उद्योग के भविष्य पर काफी प्रकाश डालते हैं। संरक्षण समाप्त करने का कारण यह नहीं था कि उद्योग सुदृढ़ और स्पर्धा करने की अवस्था में पहुँच चुका था। वास्तव में १८ वर्ष के संरक्षण के कारण, शक्कर के उद्योगपतियों में अपने उद्योग के संबंध में एक अजीब सा भ्रम हो गया था कि उद्योग को प्रत्येक अवस्था में

संरक्षण मिलता ही रहेगा, इसलिये उन्हें उद्योग के संगठन, उत्पादन की क्रिया और मजदूरों की स्थिति में सुधार करने की आवश्यकता या उत्पादन-व्यय में कमी करने की जरूरत नहीं प्रतीत हुई। इस दिशा में उद्योगपतियों ने गत १८ वर्षों में बहुत ही कम प्रयत्न किये। बोर्ड ने अपना यह निश्चित मत प्रकट किया कि उद्योग-पतियों को इस भ्रम से हटाना चाहिये और यह समय संरक्षण समाप्त करने की दृष्टि से अत्यंत अनुकूल है। इस समय विदेशों से सस्ती शक्कर आने की बहुत कम संभावना है, और दूसरे भारत सरकार भी विदेशी विनिमय की कठिनाइयों के कारण विदेशी शक्कर का आयात नहीं करेगी। अतः संसार की आर्थिक परिस्थितियों को देखते हुए संरक्षण को समाप्त करने का यह सबसे अच्छा अवसर माना गया।

शक्कर के उद्योग को संरक्षण देने से संरक्षण की नीति की कुछ विशेष समस्याएँ उद्योग के सम्बन्ध में स्पष्ट प्रतीत होती हैं। ये समस्याएँ इस प्रकार हैं :—

(१) संरक्षण देने के समय गन्ने की खेती अधिकतर बिहार और उत्तर प्रदेश में होती थी। संरक्षण के कारण इसका स्थानीय-करण उत्तर प्रदेश में और भी अधिक हो गया। शक्कर के कार-खानों की अधिकांश संख्या उत्तर प्रदेश और बिहार में ही है, इसलिए भविष्य में शक्कर के कारखानों के स्थानीयकरण का राज्य की ओर से नियमन करना आवश्यक होगा।

(२) संरक्षण की इतनी अधिक लम्बी अवधि के कारण शक्कर के व्यापार में कुछ ऐसे असामाजिक हित उत्पन्न हो गये कि जिनसे शक्कर के उद्योग को लाभ होने के बजाय हानि अधिक हुई। उदा-हरण के लिये शुगर सिन्डीकेट (Sugar Syndicate) इसी प्रकार की संस्था थी, जिसको अन्त में चलकर सरकार ने मान्यता नहीं दी।

(३) संरक्षण देने के समय यह बिल्कुल स्पष्ट था कि उद्योग में उत्पादन-व्यय बहुत अधिक है और यह भी स्पष्ट था कि निकट भविष्य में उसमें कोई विशेष कमी नहीं की जा सकती। उत्पादन-व्यय में कमी करने का केवल एक ही मार्ग हो सकता था, जो कि उद्योग का सह-उत्पत्ति (Bi-Producis) है। उसका जब तक औद्योगिक उपयोग नहीं होता है तब तक उद्योग की आय में वृद्धि होने का और उसके द्वारा उद्योग के उत्पादन-व्यय में कमी का और कोई तरीका नहीं है। उद्योग को बार-बार संरक्षण देते समय यदि उससे उत्पन्न सहायक पदार्थों के उपयोग की शर्त लगा दी जाती तो इस समय उद्योग में उत्पादन-व्यय इतना अधिक नहीं होता और वह संरक्षण समाप्त होने के समय इतना कमजोर नहीं पाया जाता।

(४) संरक्षण देने के समय प्रायः सभी की यह धारणा थी कि उद्योग के विकास के लिए संरक्षण आवश्यक है, परन्तु ज्यों-ज्यों संरक्षण का समय बीतता गया त्यों-त्यों उद्योग से सम्बन्धित अन्य हितों की रक्षा करने का भी प्रश्न खड़ा हुआ। संरक्षण के अंतर्गत राज्य की आय, उद्योग, गन्ने की खेती करने वाले किसान और उपभोक्ताओं के हितों में सामंजस्य स्थापित करने की समस्या भी खड़ी हुई। गन्ने की न्यूनतम दर, शक्कर पर नियंत्रण, उत्पादन का नियमन, शक्कर के व्यापार पर नियंत्रण, शक्कर के कारखानों के स्थानीयकरण पर नियंत्रण इत्यादि इसी समस्या को हल करने के विभिन्न प्रयत्न हैं। भविष्य में उद्योग के विकास का नियमन करते समय विभिन्न हितों का ध्यान रखना आवश्यक होगा।

युद्धोत्तर काल में शक्कर का उद्योग

द्वितीय महायुद्ध समाप्त होने के पश्चात् शक्कर के उद्योग में कुछ ऐसे परिवर्तन हुये हैं जिनसे उद्योग की स्थिति में बहुत कुछ

परिवर्तन हो गया है। दिसम्बर सन् १९४७ में सरकार ने शक्कर पर से नियंत्रण उठाने का निश्चय किया। यद्यपि इस प्रकार के परिवर्तन के लिए कुछ अधिकारी और जनता तैयार नहीं थी, परन्तु शुगर सिन्डीकेट के आश्वासन के कारण सरकार ने नियंत्रण उठा दिया। सिन्डीकेट ने आश्वासन दिया था कि वह १९४९ तक एक निश्चित मूल्य दर पर सारे देश में शक्कर देता रहेगा। परंतु सिन्डीकेट ने अपना यह वायदा पूरा नहीं किया और नियंत्रण उठाने के कुछ दिनों पश्चात् ही देश भर में शक्कर की कीमत बढ़ गई। कहीं-कहीं तो शक्कर, बाजार से बिल्कुल गायब हो गई और अनेक जगहों पर उसकी कीमत २ रुपये प्रति सेर तक पहुँच गई। इस अव्यवस्था का सबसे बड़ा कारण यह था कि सिन्डीकेट ने बहुत जल्दी-जल्दी बड़ी मात्रा में अनेक प्रांतों को शक्कर का कोटा दे दिया। शक्कर के कारखानों को रेल के डिब्बे भी आवश्यकता से अधिक मिल गये थे। इसके अतिरिक्त बहुत कुछ शक्कर चोरी से पाकिस्तान को भी भेजी जाने लगी थी। स्थिति इतनी अधिक बिगड़ गई कि कुछ समय के लिये शक्कर के व्यापार में अराजकता फैल गई। शक्कर के बड़े-बड़े व्यापारियों ने स्थिति का लाभ उठाकर बाजार से शक्कर गायब कर दी और शक्कर के व्यापारियों ने, चोर बाजार में शक्कर बेचकर करोड़ों रुपये का मुनाफा कमाया। बाद की जाँच से मालूम पड़ता है कि इस सारे परिवर्तन में सिन्डीकेट के व्यापारियों का बहुत अधिक हाथ था। इसलिए भारत सरकार ने सिन्डीकेट को समाप्त कर दिया। उद्योग के मालिकों में जो अनावश्यक आत्म-विश्वास हो गया था और जो संरक्षण से नाजायज लाभ उठाते थे, उनको सचेत करने के लिए १९५० में भारत सरकार ने संरक्षण भी समाप्त कर दिया।

युद्धोत्तर काल में उद्योग की सबसे बड़ी समस्या घटता हुआ

शक्कर का उत्पादन है। पिछले १० वर्षों से उत्पादन की मात्रा घटती ही जा रही है। १९४७ और ४८ में पिछले १२ वर्षों की अवधि की अपेक्षा सबसे कम उत्पादन हुआ। उत्पादन के घटने के मुख्य कारण निम्नलिखित हैं :—

(१) गन्ने की खेती का स्थानीयकरण मुख्यतया उत्तर प्रदेश और बिहार में हुआ। एक ही भूमि पर बार-बार गन्ने की खेती करने से उसकी उत्पादन शक्ति कम हो गई है। इसलिये प्रति एकड़ गन्ने का उत्पादन कम होता जा रहा है।

(२) गन्ने की किस्म में भी कोई विशेष उन्नति नहीं हुई है। घटिया किस्म का गन्ना पैदा करने से, उसकी मात्रा अधिक होते हुये भी, उसमें से शक्कर कम निकाली जाती है।

(३) कुछ विशेष कारणों से गुड़ और खांड़सारी का भाव इतनी तेजी के साथ बढ़ा है कि गन्ने का उपयोग शक्कर में अधिक न होकर गुड़ और खांड़सारी में अधिक होने लगा है।

गन्ने की मात्रा और किस्म को बढ़ाने के लिए भूमि-सुधार की आवश्यकता है। जहाँ तक शक्कर और गुड़ की प्रतिस्पर्धा का प्रश्न है, सरकार के हस्तक्षेप की आवश्यकता है। गुड़ के मूल्य या उत्पादन पर नियंत्रण लगाकर या गुड़ के निर्यात पर नियंत्रण लगाकर उसका मूल्य कम किया जा सकता है और तभी गन्ना गुड़ की ओर न खिंचकर शक्कर के कारखानों की ओर अधिक जाने लगेगा। परंतु इस प्रकार के नियमन को कार्यान्वित करने के पहले कृषक, उपभोक्ता, गुड़ के उद्योग और शक्कर के कारखानों के हितों का संतुलन करना आवश्यक है। वास्तव में शक्कर के उद्योग का देशव्यापी आयोजन आवश्यक है।

शक्कर समिति—उपर्युक्त समस्या को हल करने के लिए भारत सरकार ने १९४७ में एक शक्कर समिति (शुगर पेनल) नियुक्त

की। इस समिति ने सिफारिश की कि १९५० तक लगभग १६ लाख टन शक्कर प्रति वर्ष बन जानी चाहिये थी। समिति के अनुमान के अनुसार १५½ लाख टन शक्कर देश के भीतर बेचने के लिये प्रति वर्ष बननी चाहिये थी। भारत सरकार ने समिति के इस अनुमान को देश की बढ़ती हुई आवश्यकता को देखते हुये कम समझा। इसलिए १८½ लाख टन उत्पादन का लक्ष्य निर्धारित किया गया। समिति ने शक्कर के उत्पादन को बढ़ाने के लिए निम्न उपाय सुझाये थे :—

(१) शक्कर के कारखानों के पास नई सड़कें बनाकर या कुछ कारखानों को गन्ने के खेतों के पास स्थापित करके कारखानों में अधिक गन्ना पहुँचाने की व्यवस्था करना। इस उपाय से लगभग १ लाख ७० हजार टन उत्पादन वृद्धि होने की आशा की गई थी।

(२) ऐसे कारखाने जिनमें कि उत्पादन का व्यय अधिक हो रहा है और वे अलाभकारी बन गये हैं, उनमें मशीन इत्यादि बढ़ा दी जाय ताकि वे लाभकारी बन सकें। इस उपाय से १ लाख टन अधिक शक्कर बनने का अनुमान था।

(३) कुछ क्षेत्रों में शक्कर के नये कारखाने खोलकर उत्पादन वृद्धि करना जिससे लगभग २ लाख टन प्रति वर्ष अधिक उत्पादन हो सके।

शक्कर के नये कारखानों के सम्बन्ध में समिति ने सुझाव रखा कि लगभग १५४ कारखानों में से १०३ कारखाने उत्तर प्रदेश और बिहार में स्थित हैं और समस्त उत्पादन का ७० प्रतिशत भाग उत्तर प्रदेश और बिहार में बनाया जाता है, इसलिये भविष्य में नये कारखाने उत्तर प्रदेश और बिहार में न खोलकर अन्य प्रांतों में ही खोले जायँ। मद्रास, बम्बई, पञ्जाब और बङ्गाल के लिये ४ कार-खाने प्रति प्रांत के अनुसार निश्चित किये गये जिनकी वार्षिक

उत्पादन शक्ति १०-१२ हजार टन होगी। आसाम और उड़ीसा के लिए एक-एक कारखाने की सिफारिश की है। भारत सरकार ने समिति की ये सिफारिशें स्वीकृत कीं, परन्तु एक शर्त रखी गई कि यदि उत्तर प्रदेश और बिहार में कुछ विशेष कारणों से नये कारखाने खोलने पड़े, तो उस प्रकार की आज्ञा प्रदान की जा सकेगी। नये कारखाने खोलने के लिए समिति के अनुमान के अनुसार लगभग १२ करोड़ रुपये की मशीन की आवश्यकता होगी। इस मशीन का प्रबन्ध करने के लिए समिति ने एक केन्द्रीय सङ्गठन, स्थापित करने की सिफारिश की।

राज्य के नियंत्रण इत्यादि के सम्बन्ध में समिति ने निम्न सिफारिशें कीं :—

(१) शक्कर के उद्योग पर वैयक्तिक अधिकार होना चाहिये। परन्तु शक्कर के उत्पादन, मूल्य और वितरण पर राज्य का नियंत्रण होना आवश्यक है।

(२) शक्कर का वास्तविक वितरण एक ऐसे सङ्गठन के द्वारा होना चाहिये जिसकी सदस्यता प्रत्येक शक्कर के कारखाने के लिए अनिवार्य हो।

(३) शक्कर की दर कम करने के लिये उद्योग को कुछ विशेष उपाय करने चाहिये, जैसे—उत्पादन कला में सुधार आदि।

(४) अगले ५ वर्षों के लिये उद्योग का संरक्षण चालू रखना चाहिये। परन्तु उपभोक्ता के हितों की रक्षा के लिये धीरे-धीरे संरक्षण कम कर देना चाहिये। साथ ही उद्योग में अनुसंधान और संगठन को प्रोत्साहन देना चाहिये। १ आना प्रति हंडरवेट उत्पाद कर को बढ़ाकर ४ आने प्रति हंडरवेट कर देना चाहिये ताकि उद्योग के विकास के लिये अधिक धन उपलब्ध हो सके।

शक्कर उद्योग का भविष्य

भारत में शक्कर उद्योग के विकास के लिए अभी भी अनुकूल परिस्थितियाँ विद्यमान हैं। इस समय सारे संसार में भारत गन्ने की शक्कर सबसे अधिक बनाता है। सबसे अधिक गन्ने की खेती भी इसी देश में होती है। मजदूरों की शक्ति भी भारत में कम नहीं है और मजदूरी की दर भी काफी सस्ती है। भारत निरामिष देश है। यहाँ की जनता के भोजन में शक्कर का अंश अधिक होना चाहिये। देश के जीवन स्तर में यदि थोड़ी भी वृद्धि की जाय तो शक्कर की माँग देश में बहुत अधिक बढ़ सकती है। उद्योग ने यांत्रिक प्रगति भी काफी अच्छी कर ली है। परन्तु देश में अभी तक प्रति व्यक्ति शक्कर का उपभोग बहुत कम है। उदाहरण के लिए देश में प्रति व्यक्ति प्रति वर्ष १० पौंड शक्कर का उपभोग होता है जबकि आस्ट्रेलिया और अमेरिका में प्रति व्यक्ति प्रति वर्ष १०५ पौंड शक्कर का उपभोग होता है और इंग्लैंड में लगभग ९५ पौंड। यदि संसार के बड़े-बड़े देशों से भारत की तुलना की जाय तो सम्भवतः हमारे देश में शक्कर का उपभोग सबसे कम होगा।

गत १८ वर्षों में संरक्षण के कारण यद्यपि उद्योग ने काफी प्रगति की है, परंतु प्रति व्यक्ति शक्कर के उपभोग में कोई विशेष उन्नति नहीं हुई है। युद्धोत्तर काल में शक्कर के उद्योग में कुछ ऐसी नवीन परिस्थितियाँ उत्पन्न हो गई कि जब तक उद्योग का पुनर्संगठन नहीं किया जाता है, तब तक भविष्य में उसका विकास बड़ा कठिन होगा। विभाजन होने के समय ऐसा अनुमान लगाया गया था कि पाकिस्तान का क्षेत्र अलग हो जाने पर लगभग २ लाख टन शक्कर बच रहेगी और भारत से उसका निर्यात किया जा

सकेगा। परन्तु विदेशों की अपेक्षा भारतीय शक्कर का मूल्य इतना अधिक है कि विदेशों में उसको खपाना बहुत मुश्किल है। अन्य देश भारत से शक्कर न मँगाकर ब्राजिल और क्यूबा या जावा से शक्कर मंगाना अधिक अच्छा समझते हैं। पाकिस्तान पड़ोसी राष्ट्र होने पर भी हमसे शक्कर न खरीदकर क्यूबा और ब्राजिल से खरीदता है।

उद्योग में कुछ मौलिक परिवर्तन करने की आवश्यकता है, तभी भविष्य में उसका विकास हो सकेगा—

(१) सबसे मुख्य समस्या उद्योग के सामने उत्पादन-व्यय में कमी करने की है। उत्पादन व्यय में कमी करने पर ही उद्योग में लाभ की दर बढ़ सकती है, उपभोक्ता को सस्ती दर पर शक्कर मिल सकती है और अतिरिक्त उत्पादन को विदेशों में भेजा जा सकता है। उत्पादन व्यय में निम्न उपायों से कमी की जा सकती है :—

(अ) प्रति एकड़ गन्ने के उत्पादन में अच्छे बीज और खाद देकर तथा अच्छे औजारों का उपयोग करके वृद्धि करना आवश्यक है।

(ब) गन्ने की किस्म में भी उन्नति की जाय ताकि प्रति टन गन्ने से अधिक शक्कर बनाई जा सके।

(स) गन्ने के खेतों से गन्ने को कारखाने तक पहुँचाने के लिए सस्ते और तेज यातायात का प्रबंध करना आवश्यक है।

(२) गन्ने की खेती और उद्योग के एक क्षेत्र में स्थानीयकरण हो जाने से खेती और उद्योग दोनों ही अलाभकारी बनते जा रहे हैं। इसलिए भविष्य में गन्ने की खेती और उद्योग को अन्य प्रांतों में फैलाने की जरूरत है। इससे न केवल समान औद्योगीकरण

को सहायता मिलेगी वरन् गन्ने की उपज और किस्म में भी वृद्धि होने की सम्भावना है।

(३) उद्योग के कुछ सहायक पदार्थों का भी औद्योगिक उपयोग करना आवश्यक है। इससे उद्योग मौसमी न रहकर वर्ष भर के लिये चल सकता है। इस उपाय से भी उत्पादन व्यय में कमी की जा सकेगी।

वास्तव में उद्योग की मुख्य समस्या तभी हल हो सकती है, जब कि कृषक, उद्योग और उपभोक्ता तीनों के हितों का समन्वय किया जा सके। संरक्षण के समय में केवल उद्योग के हितों की ही रक्षा की गई थी। अब उद्योग इस स्थिति पर पहुँच गया है, जबकि उससे संबंधित अन्य हितों का भी ध्यान रखना आवश्यक है।

सीमेंट का उद्योग

भारत में सीमेंट के उद्योग को स्थापित हुये केवल ४० वर्ष ही हुये हैं। अन्य सङ्गठित उद्योगों के मुकाबले में वह अभी शैशव अवस्था में ही माना जा सकता है। आरंभ में ही देश में सीमेंट तैयार करने के लिए सभी कच्चे माल पर्याप्त मात्रा में मिलते हैं। परंतु आश्चर्य है कि देश के औद्योगीकरण के प्रारंभिक काल में इस उद्योग की इतनी अवहेलना की गई। १६०४ में सबसे पहले मद्रास में पोर्टलैंड सीमेंट बनाने का प्रयास किया गया। परन्तु औद्योगिक कौशल की त्रुटियों के कारण यह प्रयास असफल रहा। वास्तव में वर्तमान सीमेंट उद्योग की नींव १६१२-१३ में पड़ी। सर्वप्रथम पोरबंदर, काठियावाड़ में "इंडिया सीमेंट कंपनी" और इसके पश्चात् मध्यप्रांत में "कटनी सीमेंट कंपनी" और राजपूताना की बूंदी रियासत में "पोर्टलैंड सीमेंट कंपनी" स्थापित हुई। संयोग से सीमेंट के कारखाने स्थापित होने के साथ ही प्रथम महायुद्ध आरंभ हुआ। फलतः भारत में विदेशों से सीमेंट आना रुक-सा गया। सैनिक और नागरिक दोनों ही प्रकार के कार्यों के लिये देश में सीमेंट की माँग बढ़ी। प्रथम महायुद्ध के समय उद्योग को सरकार से विशेष प्रोत्साहन मिला। भारतीय कारखानों का प्रायः सारा उत्पादन सरकार खरीद लेती थी। सरकार से उद्योग को अनेक प्रकार की सुविधाएँ मिलीं। फलस्वरूप युद्ध और युद्धोत्तर काल में उद्योग की बहुत उन्नति हुई। १६१४ में देश में केवल ६४५ टन सीमेंट बनता था परन्तु आगामी दस वर्ष में उत्पादन २५०,०००

टन प्रति वर्ष हो गया।* पुरानी कंपनियों में दुगुना उत्पादन होने लगा और छै नये कारखाने इसी बीच में खुल गये।

प्रथम महायुद्ध की अभिवृद्धि के कारण देश में थोड़े ही समय में ७ सीमेंट के कारखाने स्थापित हो गये और पुराने कारखानों में दुगुना उत्पादन होने लगा। इसके फलस्वरूप माँग की अपेक्षा उत्पादन अधिक हो गया और देश के ही कारखानों में अलाभकारी प्रतिस्पर्धा चलने लगी। इससे प्रायः सभी कारखानों को हानि हुई। उद्योग में संकट की स्थिति उत्पन्न होते देखकर उद्योग के संरक्षण की माँग सरकार को पेश की गई। १६२५ में टैरिफ बोर्ड ने समस्त उद्योग की प्रत्येक दृष्टि से जाँच की और वह इस निर्णय पर पहुँचा कि उद्योग को संरक्षण नहीं दिया जाय। तदनुसार सीमेंट उद्योग की संरक्षण की माँग सरकार ने मंजूर नहीं की, क्योंकि उद्योग की गिरती हुई स्थिति के कारण मुख्यतया अनावश्यक उत्पादन और आपसी प्रतिस्पर्धा थे। टैरिफ बोर्ड की सलाह के अनुसार आपसी सहयोग बढ़ाने के लिए १६२० में "कंकरीट एसोसिएशन आफ इंडिया" नामक संस्था स्थापित की गई जिसका मुख्य उद्देश्य आपसी प्रतिस्पर्धा समाप्त कर रेलवे की दरों में कमी की माँग करना था। इसके अतिरिक्त सब कारखानों की ओर से सामूहिक रूप में सीमेंट की खपत बढ़ाना और उसके बाजार का प्रसार करना भी इस संस्था का उद्देश्य था। ऐसोसिएशन के प्रचार के कारण निस्संदेह सीमेंट की लोकप्रियता बढ़ी है और अब उसका अधिक व्यापक उपयोग होने लगा है। कुछ लोग तो यहाँ तक कहते हैं कि स्पातयुग से बढ़कर देश सीमेंटयुग में पदार्पण कर रहा है। देश के समस्त सीमेंट उत्पादन के विक्रय का सङ्गठित

* डा० पी० जे० टामस, "इंडियन बेसिक इंडस्ट्रीज"—पृष्ठ १३२।

प्रबंध करने की दृष्टि से १६३० में सब कारखानों ने मिलकर सीमेंट मार्केटिङ्ग कंपनी स्थापित की। इसके द्वारा विभिन्न कारखानों के उत्पादन की मात्रा भी निश्चित की जाने लगी। यह पद्धति अधिक सफल नहीं हो पाई क्योंकि इसके अंतर्गत अनेक कारखानों के उत्पादन में कमी हुई और वे बेकार रहने लगे। इस गंभीर परिस्थिति को समाप्त करने के लिए उद्योग ने बड़ा महत्वपूर्ण कदम उठाया। सीमेंट के बड़े-बड़े कारखानों ने संविलयन कर एक बड़ी कम्पनी "एसोसिएटेड सीमेंट कंपनीज़ लिमिटेड" स्थापित की। इस संविलयन के द्वारा उद्योग में सङ्गठन और औद्योगिक कुशलता की दृष्टि से बहुत उन्नति हुई है। उद्योग के जो साधन पहले बँटे हुये थे वे अब संग्रहीत रूप से उसे उपलब्ध हैं। आपस की प्रतिस्पर्धा समाप्त हो गई है। सीमेंट की कीमत पर अब उनका प्रभाव स्थापित हो गया है तथा सामूहिक रूप से अब उद्योग के हितों की रक्षा की जा सकती है। ए० सी० सी० सङ्गठित होने के पश्चात् उद्योग में आशातीत उन्नति हुई है। विकास की गति और सङ्गठन की दृष्टि से सीमेंट का उद्योग अन्य उद्योगों की तुलना में अद्वितीय स्थान रखता है। उसका उत्पादन और वितरण दोनों ही सुसङ्गठित हैं।

उद्योग का स्थानीकरण

कच्चे माल की निकटता की दृष्टि से भारत में सीमेंट उद्योग को सभी प्राकृतिक सुविधाएँ उपलब्ध हैं। भारत के बहुत से क्षेत्रों में उच्च कोटि का चूना काफी मात्रा में रेलवे लाइन के नजदीक ही पाया जाता है इसलिये चूने की खानों के पास ही सीमेंट के कारखाने स्थापित किये जा सके हैं। कहीं भी चूने की खान और सीमेंट के कारखाने के बीच २०-३० मील से ज्यादा फासला नहीं

है।* ग्वालियर के कारखाने में १० मील दूर से चूना मँगाया जाता है और पोरबंदर में ३२ मील दूर से और कटनी के कारखाने में लगभग २० मील दूर से चूना मँगाया जाता है। बहुत से कारखानों को इससे कम दूरी पर चूना मिल जाता है। चिकनी मिट्टी भी प्रायः सभी कारखानों के समीप ही मिल जाती है। जिप्सम ही एक ऐसा पदार्थ है जो बहुत दूरी से मँगाना पड़ता है। यद्यपि सीमेंट बनाने में केवल उसका ५ प्रतिशत भाग ही रहता है, परन्तु दूर से मँगाने के कारण उस पर रेल खर्च काफी लग जाता है। विभाजन के पश्चात भारत के कारखानों को पाकिस्तान से जिप्सम का आयात करना होता है। परन्तु भारत के भूगर्भ पर्यवेक्षण के अनुसार देश के अनेक स्थानों में जिप्सम स्थित है। राजपूताना में बहुत सी जगहों पर यह पदार्थ मिलता है। अभी कुछ समय पूर्व सौराष्ट्र में भी इसकी खोज कर ली गई है। इसलिए आशा की जाती है कि निकट भविष्य में ही इस पदार्थ के अभाव को दूर कर दिया जायगा।†

कोयला प्राप्त करने में सीमेंट के कारखानों को अवश्य असुविधा का सामना करना पड़ता है क्योंकि अच्छे कोयले की प्रायः सभी खानें बिहार और बङ्गाल में स्थित हैं। बिजली पैदा करने के लिए घटिया दर्जे के कोयले का उपयोग किया जा सकता है। इसलिये बहुत से कारखाने रीवां या मध्यप्रदेश की खानों से कोयला प्राप्त कर लेते हैं। परन्तु भट्टी में अच्छे प्रकार के कोयले का ही

---

* "दी लोकेशन आफ इंडस्ट्रीज़ इन इंडिया" (भारत सरकार), पृष्ठ ६४।

† प्रो० सी० एन० वकील, "एकानामिक कान्सीक्वेन्सेज़ आफ इंडिया", पृष्ठ ३१३।

उपयोग हो सकता है। अतः आधी से अधिक मात्रा में कोयला विहार और बंगाल की खानों से ही मँगाना पड़ता है।*

बाजार की निकटता की दृष्टि से सीमेंट उद्योग का स्थानीयकरण संतोषजनक नहीं माना जा सकता। देश के उत्तरी क्षेत्र में स्थित कारखानों को विदेशी सीमेंट के आयात से एक प्रकार संरक्षण मिल जाता है क्योंकि बंदरगाह से देश के भीतर तक सीमेंट को पहुँचाने में रेल खर्च इत्यादि लग जाता है और इस कारण विदेशी सीमेंट कुछ महँगा पड़ता है। परन्तु वास्तव में सीमेंट की खपत उत्तरी क्षेत्र में नहीं पर बम्बई और कलकत्ते में ही सबसे अधिक है। देश में सीमेंट के सभी बड़े-बड़े कारखाने सीमेंट के बाजार, बम्बई और कलकत्ता से काफी दूरी पर स्थित हैं। कटनी का कारखाना कलकत्ता से ६७० मील दूर और बम्बई से ६८० मील दूर पड़ता है। लखेड़ी का कारखाना बम्बई से ६१० मील दूर स्थित है। इसी प्रकार काठियावाड़ के कारखाने बंबई से लगभग २६० मील दूरी के फासले पर हैं। विभाजन के पूर्व कुछ ऐसे कारखाने अवश्य थे जो सीमेंट के बाजार के समीप पड़ते थे। परंतु वे अब प्राय: सभी पाकिस्तान में स्थित हैं।

उद्योग के स्थानीकरण संबंधी उपर्युक्त त्रुटियाँ दूर नहीं की जा सकतीं क्योंकि वे मुख्यतया भौगोलिक स्थिति के कारण हैं। परन्तु १६३६ से उद्योग एक कुशल संयोग के अन्तर्गत सङ्गठित रूप से चल रहा है अतः यह आशा की जा सकती है कि वह भौगोलिक कठिनाइयों के दुष्प्रभावों की संगठन के द्वारा क्षतिपूर्ति कर सकेगा।

---

* "दि लोकेशन आफ इंडस्ट्रीज इन इंडिया" (भारत सरकार), पृष्ठ ६४।

द्वितीय महायुद्ध का प्रभाव

१६३६ में सारे भारत में सीमेंट के कारखानों की संख्या १६ थी जिसमें से ३ बिहार में, ३ मध्यप्रदेश में, ३ मद्रास में, १ पंजाब में, १ बंगाल में, २ सिन्ध में और ६ देशी रियासतों में स्थित थे। इन सब कारखानों में १०,७५८ मजदूर काम करते थे। द्वितीय महायुद्ध आरम्भ होने पर विदेशों से आयात बंद हो गया। सैनिक कार्यों के लिए सीमेंट की माँग कई गुनी बढ़ गई। सैनिक और नागरिक सुरक्षा के लिए नई इमारतें इत्यादि बनाई जाने लगीं। विदेशों में भी भारत के सीमेंट की माँग अधिक हुई। अतः पुराने कारखानों में उत्पादन बढ़ा और नये कारखाने स्थापित किये गये। युद्ध के समय सीमेंट उद्योग में बड़ी तेजी के साथ उन्नति हुई। उत्पादन में वृद्धि होने पर भी सीमेंट की माँग इतनी अधिक हो गई थी कि देश में सीमेंट की कमी हो गई। सीमेंट की कीमतें बढ़ गईं। सरकार को सीमेंट की अत्यधिक आवश्यकता थी। अतः अगस्त १६४२ में भारत सरकार ने सीमेंट उद्योग पर नियंत्रण लगा दिया। इसके अनुसार कुल उत्पादन का लगभग ६० प्रतिशत भाग सरकार सैनिक आवश्यकताओं के लिए हस्तांतरित कर लेती थी और केवल १० प्रतिशत उत्पादन नागरिक उपयोग के लिये बच पाता था जिसके अंतर्गत रेलवे, स्थानिक संस्थाएँ, प्रांतीय सरकार के लोक-कर्म विभाग और बंदरगाह भी आ जाते हैं। महायुद्ध के प्रारंभिक वर्षों में मलाया और जावा को सुरक्षा के लिये और इराक और ईरान को तेल के कारखानों के लिये भी सीमेंट का निर्यात किया गया।* परन्तु ज्यों-ज्यों हवाई अड्डों का निर्माण समाप्त होता गया, नागरिक उपयोग के लिये अधिक सीमेंट उपलब्ध कर दिया गया।

---

* डा० थामस : "इंडियन बेसिक इंडस्ट्रीज", पृष्ठ ३२४।

१९४१-४२ में सीमेंट का सबसे अधिक उत्पादन हुआ, परन्तु इसके पश्चात् उत्पादन में ह्रास होता ही जा रहा है। नीचे के आँकड़ों से यह स्थिति स्पष्ट सिद्ध होती है—

वर्ष	उत्पादन (टन)
१९३८-३९	१,५१२,०००
१९४०-४१	१,७२७,०००
१९४२-४३	२,१८३,०००
१९४३-४४	२,११२,०००
१९४४-४५	२,०४८,०००
१९४५-४६	२,०७५,०००

उत्पादन में इस ह्रास के अनेक कारण हैं। अनेक कारखानों में मजदूरों की हड़तालें हुईं, देश में राजनैतिक अस्थिरता रही, कारखानों को कोयला पर्याप्त मात्रा और उचित समय पर नहीं मिल पाया और कारखानों की मशीनें भी काफी घिस गई हैं।

द्वितीय महायुद्ध के अतिरिक्त विभाजन एक और ऐसी घटना है जिसका सीमेंट उद्योग पर काफी प्रभाव पड़ा है। १९४७ में अविभाजित भारत में २५ कारखाने थे और उनमें लगभग २०·८ लाख टन सीमेंट प्रतिवर्ष बनाया जाता था। विभाजन के फल-स्वरूप १९ कारखाने भारत में रह गये हैं और उनमें २०·१ लाख टन सीमेंट प्रतिवर्ष बनाया जाता है। बाकी के कारखाने पाकिस्तान में स्थित हैं। विभाजन के कारण भारत में स्थित पटियाला और जींद के कारखानों में उत्पादन की कमी हुई क्योंकि वहाँ शान्ति व्यवस्था नष्ट हो चुकी थी। जिप्सम अधिकांश में पाकिस्तान में ही पाया जाता है और आज भी भारत को इस पदार्थ के लिए पाकिस्तान पर निर्भर रहना पड़ता है। भारत और पाकिस्तान के सीमेंट उद्योगों की तुलना करने पर पता लगता है कि भारत की अपेक्षा

पाकिस्तान की स्थिति अच्छी है। पाकिस्तान की उत्पादन क्षमता उसकी आवश्यकता से अधिक है। सन् १६४८ में पाकिस्तान में ३२०,००० टन सीमेंट का उत्पादन हुआ जबकि उसने केवल २००,००० टन सीमेंट का उपयोग किया। विभाजन के पश्चात् भारत में इसके विपरीत ही परिस्थिति उत्पन्न हुई। भारत में विभाजन के पश्चात् सीमेंट का उत्पादन आवश्यकता से कम हुआ। अतः कुछ समय तक उसे पाकिस्तान से सीमेंट का आयात करना पड़ा। परन्तु धीरे-धीरे अब स्थिति में सुधार हो रहा है।*

विकास-योजना

देश में सीमेंट के बढ़ते हुये उपयोग को देखकर भारत सरकार ने १६४५ में उद्योग के प्रसार के लिये निश्चय किया और उसके अनुसार ३७ योजनाएँ स्वीकृत कीं।† इनसे ३० लाख टन सीमेंट का उत्पादन बढ़ने की योजना थी। विभाजन के पश्चात् इनमें से २६ योजनाएँ जिनसे २०·८ लाख टन उत्पादन की आशा है भारत के हिस्से में आईं। इन योजनाओं की फिर से जाँच की जा रही है। ६ और नई योजनाएँ बनाई गई हैं। इन सब के पूरी हो जाने पर देश में ५०·७० लाख टन सीमेंट बनाया जाने लगेगा। विभाजन के बाद २½ वर्षों में ७२०,००० टन अधिक सीमेंट बनाया गया है। सौराष्ट्र, ट्रावनकोर और मद्रास में नये कारखाने खोल दिये गये हैं।

---

*प्रो० सी० एन० वकील, "इकानामिक कान्सीक्वेंसेज़ आफ इंडिया", पृष्ठ ३१२-१३।

†"मैन्यूफैक्चरिंग इंडस्ट्रीज़" (एन० पी० सी०), पृष्ठ १५६।

सीमेंट के लिये भविष्य में माँग बढ़ने की पूर्ण आशा है। सिंचाई, सड़क और नदियों की बहुमुखी योजनाओं के कार्यान्वित करने के लिए करोड़ों टन सीमेंट की आवश्यकता होगी। देश में उद्योग-धंधों के विकास के लिये नये कारखानों और इमारतों का निर्माण होगा जिनके कारण सीमेंट का उपयोग बढ़ेगा। बरमा, मलाया और इंडोनेशिया में भी सीमेंट की आवश्यकता बढ़ेगी। द्वितीय महायुद्ध के कारण उन देशों की उत्पादन-शक्ति घट गई है और अब पुनर्निर्माण की योजनाएँ कार्यान्वित की जा रही हैं। इन देशों को भारत से ही सीमेंट मँगाने में आसानी रहेगी। हमारे देश में भी अब धीरे-धीरे गृह निर्माण का कार्य जोर पकड़ता जा रहा है और सीमेंट का उपयोग व्यापक हो गया है। कुछ नये किस्म के सीमेन्ट का भी इमारतों में उपयोग होने लगा है। उत्पादन बढ़ाने में अब अधिक कठिनाई नहीं होगी क्योंकि सीमेन्ट के कारखाने की अनेक मशीनें अब भारत में ही बनाई जा सकती हैं। विभाजन के कारण पाकिस्तान से जिप्सम प्राप्त करने में जो कठिनाइयाँ होती थीं वे भी अब प्रायः समाप्त हो गई हैं क्योंकि भारत में ही जिप्सम तलाश कर लिया गया है।

सीमेन्ट के उद्योग के केन्द्रित होने की अपेक्षा विकेन्द्रित होने की अधिक संभावना है। इसके दो कारण हैं: सीमेन्ट तैयार हो जाने के पश्चात् उसे बाजार तक ले जाने में काफी व्यय होता है। इसलिए बाजार के नजदीक ही सीमेन्ट के कारखाने खोलना अधिक लाभदायक रहता है। दूसरे सीमेन्ट बनाने में सबसे अधिक चूने का उपयोग होता है। एक टन सीमेन्ट बनाने के लिये १·६ टन चूने की आवश्यकता होती है। किसी दूर के स्थान से चूना कारखाने तक लाना अधिक व्यय का कारण बन जाता है। अतः चूने की खान के पास ही कारखाना खोलना अधिक लाभदायक रहता

है। परंतु चूना देश में किसी खास क्षेत्र में नहीं पाया जाता। यह देश के प्रायः सभी भागों में पाया जाता है। इसलिये कारखाने चूने की खानों के समीप ही अधिक खोले जायँगे। भविष्य में सीमेन्ट के कारखानों का स्थान निश्चित करते समय विभिन्न क्षेत्रों में सीमेन्ट की माँग और चूने की खानों के स्थान को ध्यान में रखना चाहिये।*

---

* डा० बालकृष्ण : "रीजनल प्लानिंग इन इंडिया", पृष्ठ २१३।

कागज़ का उद्योग

कागज बनाने का उद्योग भारत में सबसे पहले महमूद गजनवी के समय में १०वीं शताब्दी में आरम्भ हुआ। कागज के लिये साफ और अच्छे पानी की बहुत आवश्यकता होती है। अतः उद्योग की शुरुआत सर्वप्रथम काश्मीर में हुई। कुछ समय पश्चात् स्यालकोट में भी कागज बनाना आरम्भ हो गया। मुगल काल में तो प्रायः सारे देश में ही कागज बनाया जाता था। पेशवाओं के राज्य में इस उद्योग को विशेष प्रोत्साहन मिला। देश के प्रत्येक भाग में इसके छोटे-छोटे कारखाने चलते थे और हजारों की संख्या में मजदूर इस उद्योग में लगे हुये थे। धार्मिक भावनाओं के कारण हिन्दू इस उद्योग में कार्य नहीं करते थे। इसलिये अधिकांश में मुसलमानों के ही हाथ में यह उद्योग रहा है। आज भी जहाँ हाथ के कागज का उद्योग जीवित है, जैसे जयपुर, हैदराबाद और बंगाल, वहाँ पर मुसलमान ही इस उद्योग में लगे हुये हैं।*

१९वीं शताब्दी के मध्य तक भारत में जब कभी कागज की कमी पड़ती थी तो चीन से उसका आयात किया जाता था। परन्तु भारत मन्त्री सर चार्ल्स वुड के समय में यह आदेश जारी किया गया कि सरकारी काम के लिये सारा कागज केवल ब्रिटेन से ही मँगाया जाय ब्रिटेन में उत्पादन क्रियाओं का यन्त्रीकरण बड़ी तेजी के साथ हो रहा था। कागज भी मशीनों से बनाया जाने लगा। भारत में ब्रिटिश सरकार ने मशीन से बने हुये अंग्रेजी कागज को प्रोत्साहन दिया और धीरे-धीरे सारे देश में ब्रिटिश शासन की नीति के कारण हाथ से कागज बनाने का उद्योग नष्ट होता चला गया। कागजी लोगों को विवश होकर अपना धंधा छोड़ना पड़ा।

---

*रिपोर्ट आफ दी सी० पी० इन्डस्ट्रीयल सर्वे कमेटी—भाग १, संख्या २, पृष्ठ १६१।

आधुनिक पद्धति के अनुसार मशीन से कागज बनाने के उद्योग को आरंभ करने का श्रेय डॉक्टर विलियम कैरे को है जिन्होंने सबसे पहले हुगली नदी के किनारे सीरामपुर में कागज बनाने का कारखाना स्थापित किया। परन्तु सङ्गठित उद्योग का वास्तविक आरंभ १८७० में रॉयल पेपर मिल्स, बैली में स्थापित होने से माना जाता है। १८८२ में टीटागढ़ पेपर मिल्स की स्थापना हुई जिसके अन्तर्गत १९०३ में इम्पीरियल पेपर मिल का विलयन हो गया। १८९२ के लगभग ३० वर्ष पश्चात् तक हुगली नदी के किनारे कोई अन्य मिल नहीं खोली गई। १९२२ में नैहाटी नामक स्थान पर बाँस से कागज बनाने के लिए इन्डियन पेपर पल्प कंपनी नई रीति से कागज बनाने लगी। देश के उत्तरी भाग में कागज बनाने का सबसे पुराना कारखाना अपर इंडिया पेपर मिल, लखनऊ में १८७९ में खोला गया। १८८७ में पूना में डेक्कन पेपर मिलस कंपनी स्थापित हुई। रानीगंज में बङ्गाल पेपर मिल्स कम्पनी १८९१ में खोली गई। सहारनपुर के समीप स्टार पेपर मिल्स स्थापित की गई। इसके पश्चात् बम्बई, आसाम, मद्रास, हैदराबाद, ट्रावनकोर, मैसूर में भी कारखाने खोले गये।

उद्योग का विकास

भारत जैसे देश में जहाँ की जनता ९० प्रतिशत अशिक्षित है, कागज का सामाजिक जीवन में इतना अधिक महत्व नहीं है। फिर भी यहाँ उद्योग की प्रगति काफी सन्तोषजनक है। बङ्गाल प्रान्त कागज उद्योग का मुख्य क्षेत्र है। इस प्रान्त में देश के कुल कागज के उत्पादन का ५० प्रतिशत भाग बनाया जाता है। देश की सबसे बड़ी दो मिलें टीटागढ़ पेपर मिल्स और बङ्गाल पेपर मिल्स इसी प्रान्त में स्थित हैं। सारे भारत में कागज उद्योग में लगे हुए १२ हजार मजदूरों में से लगभग ७ हजार मजदूर बङ्गाल के कारखानों

में हैं। दस-बारह वर्ष पूर्व बङ्गाल के कारखानों में सवाई घास का ही अधिक उपयोग होता था और वह भी यू०पी० और नैपाल के ५०० से ६०० मील दूर स्थित जंगलों से मँगानी पड़ती थी। परन्तु इस कठिनाई के साथ-साथ बङ्गाल की मिलों को कुछ अनुकूल परिस्थितियाँ भी उपलब्ध हैं। कोयले की खानें कागजों की मिलों के समीप हैं और कलकत्ता जहाँ कागज का सबसे बड़ा बाजार है इनके समीप है। सवाई घास बहुत घटिया दर्जे का पदार्थ है। बाँस से बनाया कागज बहुत अधिक मजबूत होता है और उसकी माँग भी ज्यादा है। इसलिये कुछ वर्षों से बङ्गाल की मिलों में भी बाँस का उपयोग होने लगा है। बङ्गाल के कारखानों में सम्बलपुर, बरपहाड़, अङ्गुल, पुरी, गंजम, पालामऊ इत्यादि से बाँस आते हैं। बङ्गाल का बाँस घटिया दर्जे का होता है परन्तु सस्ता होने के कारण उसका भी उपयोग होने लगा है। बङ्गाल में बाँस के जङ्गलों का सीमित क्षेत्र है और इसलिये यदि वृक्षारोपण का कार्य जारी नहीं रखा गया तो डर है कि कुछ ही समय में बङ्गाल के जङ्गल समाप्त हो जावेंगे।* सवाई घास के स्थान पर बाँस का अधिक उपयोग होने के कारण बङ्गाल की मिलों का बिहार और उड़ीसा से बाँस मँगाने से काम चलता है। परंतु फिर भी कच्चे माल की पूर्ति की दृष्टि से बङ्गाल की मिलें अनुकूल क्षेत्र में स्थित नहीं मानी जा सकतीं। केवल कोयले की खानों और कागज के बड़े बाजार की समीपता के कारण ही बङ्गाल की मिलों की स्थिति अधिक महत्वपूर्ण बन पाई है।†

उत्तर प्रदेश कागज के उद्योग का दूसरा महत्वपूर्ण क्षेत्र है। इस

---

* रिपोर्ट आफ दी टैरिफ बोर्ड आन पेपर एन्ड पेपर पल्प इंडस्ट्रीज (१९३८)।

† लोकेशन आफ इंडस्ट्रीज इन इंडिया (केन्द्रीय सरकार), पृष्ठ ५१।

प्रान्त में लखनऊ में अपर इंडिया कूपर पेपर मिल्स और सहारनपुर में स्टार पेपर मिल्स बड़े कारखाने हैं। लखनऊ का कारखाना अधिकांश में घास का ही उपयोग करता है जो कि पूर्वी जिलों से प्राप्त हो जाती है। सहारनपुर का कारखाना भी निकट के क्षेत्रों से ही घास मँगा लेता है। १९३७-३८ में इस कारखाने ने पश्चिमी क्षेत्र की घास का पूरा ठेका ले लिया था।

विहार प्रान्त के डालमियानगर में रोहतास इंडस्ट्रीज का देश के कारखानों में तीसरा स्थान है। इसमें लगभग १५०० मजदूर काम करते हैं। उड़ीसा के सम्बलपुर जिले में बृजराजनगर नामक स्थान पर ओरियन्ट पेपर मिल्स बाँस के जङ्गलों के बीच ही स्थित है और यहाँ से रामपुर की कोयले की खानें भी नजदीक हैं। कागज के अन्य कारखाने बम्बई, मैसूर, ट्रावनकोर और हैदराबाद में स्थित हैं। कुछ वर्ष हुये एक जाँच के अनुसार इस उद्योग में ६·७ करोड़ रुपये की पूँजी लगी हुई थी। १९५० में सारे देश में कागज के कारखानों की संख्या १६ थी।*

उद्योग का संरक्षण

मशीन द्वारा बने हुए कागज का उपयोग भारत में सबसे पहले विदेशी कागज के आयात से ही हुआ था। इसलिये देश के कारखानों को आरम्भ से ही विदेशी कागज के आयात का मुकाबिला करना पड़ा है। प्रथम महायुद्ध के पश्चात् तो यह प्रतिस्पर्धा और अधिक तीव्र हो गई थी। उद्योग का विदेशी प्रतिस्पर्धा से संरक्षण करने की आवश्यकता पड़ी। १९२४ में टैरिफ बोर्ड ने लिखाई और छपाई के कागज की कुछ किस्मों पर एक आना प्रति पौंड

* प्रो० सी० एन० वकील, "इकानामिक कान्सीक्वेन्सेज आफ डिवायडेड इन्डिया," पृष्ठ ३०७।

आयात कर लगाने की सिफारिश की। १६२५ में वैम्बू पेपर इंडस्ट्रीज (प्रोटेक्शन) एक्ट के अंतर्गत सात वर्ष के लिये यह आयात कर लगाया गया जिससे उद्योग का विकास हो सका। १६३२ में पुनः इस कर को ३१ मार्च १६३६ तक चालू रखने का निर्णय किया गया। १६३२ के एक्ट के अनुसार ४५ रुपये प्रति टन कागज की लुगदी (पल्प) के आयात पर कर लगाया गया ताकि भारत में बाँस से लुगदी तैयार करने के उद्योग को प्रोत्साहन मिल सके। १६३७-३८ में पुनः संरक्षण को मार्च १६३६ तक चालू रखने का निर्णय किया गया परंतु इस बार भी आयात कर में कमी कर दी गई। औसतन प्रतिवर्ष लगभग ६ करोड़ रुपये का कागज बनाया जाता है। प्रतिवर्ष ७½ से ८½ लाख टन कागज बनाया जाता है। प्रान्तों के अनुसार कारखानों का वितरण इस प्रकार है :*

प्रदेश का नाम	कारखानों की संख्या
पश्चिमी बंगाल	४
बम्बई	३
उत्तर प्रदेश	२
उड़ीसा	१
बिहार	१
पूर्वी पंजाब	१
हैदराबाद	१
मैसूर	१
ट्रावनकोर	१
मद्रास	१
	१६

* "सेन्सस आफ मैन्यूफैक्चरर्स"।

परन्तु इन कारखानों में उनकी पूर्ण उत्पादन शक्ति के अनुसार माल तैयार नहीं किया जाता है। नीचे के आँकड़ों से पता चलता है कि कारखानों की उत्पादन क्षमता (इन्स्टाल्ड कैपेसिटी) में तो गत वर्षों में वृद्धि हुई है परन्तु उसके अनुसार उत्पादन की मात्रा में उन्नति नहीं हो पाई है।

कागज के कारखानों की उत्पादन क्षमता और वास्तविक उत्पादन

वर्ष	उत्पादन क्षमता (,००० टन)	वास्तविक उत्पादन
१६४६	६०	१०३
१६४७	११०	६३
१६४८	११०	६८
१६४६	१३५	१०३

द्वितीय महायुद्ध और विभाजन के प्रभाव

द्वितीय महायुद्ध के समय में उद्योग ने काफी उन्नति की। १६३८ में कागज के कारखानों की संख्या १० थी; १६४४ में यह बढ़कर १६ हो गई। इसी प्रकार उत्पादन ५३००० टन से बढ़कर ६०००० टन हो गया। कार्ड बोर्ड के उत्पादन में भी लगभग तिगुनी वृद्धि हुई है। इस प्रगति का मुख्य कारण युद्धकालीन परिस्थिति थी। सामुद्रिक यातायात की कठिनाइयों के कारण बाहर से आयात बन्द हो चुका था। सरकारी और गैरसरकारी कामों के लिए कागज की माँग लगातार बढ़ती जा रही थी। कागज की कीमतों में और कागज के उद्योग में लाभ काफी ऊँचा हो गया था। अतः कारखाने पूरी शक्ति के साथ कागज का उत्पादन कर रहे थे।

फिर भी आज देश में कागज की कमी है। विशेषकर शिक्षण संस्थाओं को अधिक कठिनाई उठानी पड़ती है। कागज के वितरण और मूल्य पर सरकार ने युद्ध और युद्धोत्तर काल में अनेक प्रकार के नियंत्रण और प्रतिबंध लगाये परन्तु उनसे स्थिति में किसी प्रकार का विशेष सुधार नहीं हो पाया है। आज भी भारत को कुछ विशेष प्रकार के कागजों के लिये विदेशों पर निर्भर रहना पड़ता है जैसे लिथो और पोस्टर के कागज, रद्दी कागज और समाचारपत्रों का कागज।

विभाजन के समय यद्यपि पाकिस्तानी क्षेत्र में कोई कागज का कारखाना नहीं था, परन्तु भारत स्थित कारखानों को पाकिस्तान के प्रांतों से कागज के लिए कच्चा माल मँगाना पड़ता था। पश्चिमी पाकिस्तान से भारत के कारखानों को नमक, चूना, चिथड़े इत्यादि भी मँगाने पड़ते थे। पश्चिमी बंगाल की मिलें पूर्वी बंगाल से प्रतिवर्ष औसतन ४०,००० टन बाँस मँगाती थीं। विभाजन होने से पश्चिमी बंगाल में पूर्वी बंगाल से बाँस आना बन्द हो गया। पाकिस्तान ने पूर्वी बंगाल से बाँस के निकास पर कर लगा दिया और पाकिस्तानी रेल कंपनियों ने सुविधा देना बन्द कर दिया। विभाजन से पूर्व बंगाल के जिन कारखानों को नजदीक के क्षेत्रों से ही बाँस प्राप्त हो जाता था उन्हें अब दूर-दूर से बाँस मँगाना पड़ता है जैसे मद्रास, उड़ीसा और मध्यप्रदेश से। इस परिवर्तन से पश्चिमी बंगाल की मिलों में उत्पादन व्यय बढ़ गया है और विभाजन के पूर्व की अनुकूल स्थिति अब समाप्त हो गई है। विभाजन से उत्पन्न असुविधाओं को कुछ विशेष उपायों के द्वारा ही हटाया जा सकता है। बाँस के जंगलों के विकास और संरक्षण और बाँसों के वितरण के सम्बन्ध में एक ऐसी दीर्घकालीन नीति निश्चित करने की आवश्यकता है जिसके अन्तर्गत कागज के कारखानों की बाँस की माँग

लगातार पूरी की जा सके; और जंगल जल्दी ही समाप्त न हो जायँ। बाँस के यातायात पर रेल कंपनियों को कुछ रियायत देनी चाहिये जिससे विभाजन से उत्पन्न कठिनाइयों का प्रभाव कुछ कम हो सके। इसी प्रकार वन विभाग को जंगल के ठेके देते समय पश्चिमी बंगाल के कारखानों को विशेष सुविधा देनी चाहिये।*

उद्योग का विकास

भारत में कागज के उद्योग के विकास और प्रसार के लिये उज्ज्वल अवसर है। ज्यों-ज्यों देश में शिक्षा प्रसार का कार्य ज़ोर पकड़ता जायगा त्यों-त्यों कागज की माँग बढ़ती जायगी। पंचवर्षीय योजना के अंतर्गत निश्चित रूप से देश के आर्थिक और सामाजिक जीवन का विकास होगा। कागज का उपयोग सांस्कृतिक प्रगति का द्योतक होता है। इस समय अमरीका में प्रति मनुष्य प्रतिवर्ष २४० पौंड कागज उपयोग में आता है जबकि भारत में केवल १·२ पौंड प्रति व्यक्ति उपयोग होता है। हमारे सांस्कृतिक विकास के साथ इस उद्योग को भी प्रोत्साहन मिलेगा, और कागज की माँग बढ़ेगी। भारत सरकार द्वारा स्थापित कागज समिति ने उद्योग के सम्बन्ध में निम्न विकास योजना सुझाई है :—†

---

* प्रो० वकील : "इकानामिक कान्सीक्वेन्सेज़ आफ डिवाइडेड इण्डिया", पृष्ठ ८०८।

† मैन्यूफैक्चरिंग इन्डस्ट्रीज़ (एन० पी० सी० रिपोर्ट)—पृष्ठ १२४।

भविष्य में उद्योग के विकास के साथ साथ उद्योग की वर्तमान त्रुटियों को दूर करने की आवश्यकता है। इस समय कारखानों में लगे हुये कल पुरज़े पुराने ढङ्ग के हैं और काफी घिस चुके हैं। पुराने कारखानों के कल पुर्जों का सुधार या परिवर्तन करते समय उनमें नवीन रीति के कल पुरज़े लगाने चाहिये ताकि कला-कौशल की दृष्टि से यह उद्योग अन्य देशों के उद्योग के साथ चल सके। इस समय देश में कागज बनाने वाले और कागज की लुगदी (पल्प) बनाने वाले कारखानों की संख्या में साम्य नहीं है। अनेक कारखाने अलाभकारी पैमाने के हैं। कागज उद्योग समिति ने ८००० टन प्रतिवर्ष कागज बनाने वाले कारखानों को ही लाभकारी माना है। इस कसौटी के अनुसार देश के लगभग आधे कारखाने अलाभकारी सिद्ध होते हैं। अतः समिति ने सिफारिश की है कि इससे कम उत्पादन करने वाले कारखानों का प्रसार करना चाहिये और उनमें उत्पादन बढ़ाने का प्रयत्न करना चाहिये। लक्षित उत्पादन वृद्धि में से लगभग ४०-५०,००० टन कागज पुराने कारखानों द्वारा और तैयार होना चाहिये। परंतु बङ्गाल के कारखाने इस समय जिस प्रकार का कागज बना रहे हैं, उन्हें इसी प्रकार का और कागज बनाने के लिये प्रोत्साहन नहीं दिया जाय। बङ्गाल में कोई नया कारखाना भी नहीं खोला जाय। विभिन्न प्रान्तों में नये कारखाने खोलने के बारे में समिति ने प्रान्तवार निम्न योजना के लिये सिफारिश की है—*

*रिपोर्ट आफ पैनल आन पेपर एण्ड पल्प इंडस्ट्रीज़।

कागज के कारखानों के नये स्थान

कागज का प्रकार	सुझाये हुये क्षेत्र
छापने और लिखने का कागज	मद्रास, बम्बई, आसाम, पंजाब, मध्यप्रदेश, बिहार, रीवां, उड़ीसा, उत्तरप्रदेश
अखबारी कागज	काश्मीर, टेहरी गढ़वाल, पंजाब
बोर्ड और तख्ता	बम्बई, बङ्गाल, मद्रास, मध्य-प्रदेश, उड़ीसा, पञ्जाब, उत्तर-प्रदेश, हैदराबाद

कागज उद्योग समिति के उक्त सुझाव से यह स्पष्ट है कि भविष्य में उद्योग को केवल बङ्गाल में ही केन्द्रित न कर अन्य प्रान्तों में भी विकेन्द्रित किया जाना चाहिये। गत २० वर्षों में उद्योग का जो प्रसार हुआ है और उसे जिन कठिनाइयों का सामना करना पड़ा है उनसे भी यह सिद्ध होता है कि भविष्य में कच्चे माल और बिजली की निकटता का ही उद्योग के स्थानीकरण पर सबसे अधिक प्रभाव पड़ेगा। जो कारखाने घास और बाँस का उपयोग अधिक करेंगे वे जङ्गलों के निकट वाले क्षेत्रों में ही स्थापित होंगे। इसी प्रकार विद्युत केन्द्र की निकटता भी नये कारखानों को आकर्षित करेगी। बङ्गाल की मिलें कोयले की खानों के नजदीक हैं परन्तु उन्हें बाँस और घास बहुत दूर से मँगाने पड़ते हैं। दूसरी ओर ट्रावनकोर और मद्रास में कारखाने जङ्गलों के समीप हैं परन्तु वहाँ से कोयले की खानें बहुत दूर पड़ती हैं। इन क्षेत्रों में कारखाने तभी पूरा और सस्ता उत्पादन कर सकते हैं जबकि यहाँ जल विद्युत सृजन का कार्य विकसित कर दिया जाय। १९३१ में टैरिफ बोर्ड ने लिखा था कि तिनेविली जिले में कागज का कारखाना स्थापित

करने की अत्यन्त अनुकूल परिस्थितियाँ उत्पन्न हो सकती हैं, यदि इस क्षेत्र में जलविद्युत योजना कार्यान्वित कर दी जाय।* राजा मुन्द्री के "कर्नाटक पेपर मिल्स" के सामने भी यही समस्या है, क्योंकि इसे भी बहुत दूर से कोयला मँगाना पड़ता है।† इससे यह स्पष्ट है कि बाँस का उपयोग करने वाले कारखानों का विकास इस क्षेत्र के विद्युत विकास पर निर्भर करता है। इन कारखानों को बिजली जितनी सरलता और सस्ती दर पर मिल सकेगी उतनी ही जल्दी इनका विकास संभव हो सकेगा।‡ अधिकांश में घास का उपयोग करने वाले कारखानों का भविष्य अधिक उज्ज्वल नहीं है। घास अब असीमित मात्रा में प्राप्त नहीं की जा सकती। घास से बना हुआ कागज अधिक टिकाऊ भी नहीं होता। उसकी माँग भी बाजार में कम ही है। इसलिये भविष्य में इस प्रकार के कारखानों को अधिक प्रोत्साहन नहीं देना चाहिये। देश में कुछ ऐसे भी कारखाने हैं जिनमें चिथड़े या रद्दी कागज से कागज बनाया जाता है। इस प्रकार के कारखाने स्वभावतः बड़े शहरों के समीप ही स्थापित किए जा सकते हैं क्योंकि इनके लिये कच्चा माल शहरों में ही मिल सकता है। साथ ही चिथड़े और रद्दी कागज एकत्रित करने का व्यवसाय बहुत से आदमियों को रोजी दे सकता है। इस प्रकार के कारखानों को शहर के नजदीक स्थित होने के कारण कागज के

---

* रिपोर्ट आफ टैरिफ बोर्ड आन पेपर एन्ड पल्प इंडस्ट्रीज (१६३१), पृष्ठ ४१।

† डा० लोकनाथन्: "इंडस्ट्रियल आर्गनाइजेशन इन इंडिया", पृष्ठ ७७।

‡ "लोकेशन आफ इंडस्ट्रीज, इन इंडिया" (केन्द्रीय सरकार का प्रकाशन), पृष्ठ ५२; "रिपोर्ट आफ दी टैरिफ बोर्ड" (१६३१), पृष्ठ ७४।

बाजार के निकट स्थित होने की सुविधा भी मिल सकेगी। अतः इन कारखानों को विकेन्द्रीकरण का अधिक अवसर है। विशेषज्ञों की राय में कागज का उद्योग विकेन्द्रित होना भी चाहिये। कागज की लुगदी यदि जङ्गलों के समीप वाले क्षेत्रों में तैयार की जाय और कागज बनाने के अन्य कार्य कागज के बाजार के समीप के स्थानों में किये जायँ जहाँ विद्युत या कोयले की सुविधा उपलब्ध हो तो विकेन्द्रीकरण बड़ी सरलता से किया जा सकता है।*

कागज के उद्योग के विकास में अब तक एक बड़ी कमी यह रही है कि भारत में अखबारी कागज नहीं बनाया जाता। हमारी अखबारी कागज की आवश्यकता विदेशी कागज से पूरी होती है। लगभग ३० हजार टन अखबारी कागज बाहर से मँगाना होता है और इस पर औसतन प्रतिवर्ष लगभग ३ करोड़ रुपये का विदेशी विनिमय करना पड़ता है।† कागज उद्योग समिति ने उद्योग के इस पक्ष का विकास करने पर सबसे अधिक जोर दिया है। काश्मीर, पंजाब और टिहरी गढ़वाल में मुलायम किस्म की लकड़ियाँ मिलती हैं जिनसे इस प्रकार का कागज बनाया जा सकता है। पहाड़ों से मैदानी स्थान तक इन लकड़ियों को लाने का प्रबंध करने की समस्या है, जो यातायात के विकास से ही सुलझ सकती है। समिति ने तो यहाँ तक लिखा है कि यदि वैयक्तिक पूँजी इस उद्योग का विकास करने के लिए तैयार न हो तो स्वयं सरकार को अखबारी कागज बनाने का उद्योग आरंभ कर देना चाहिये। मध्यप्रदेश में चाँदनी नामक स्थान पर अखबारी कागज का "नेपा मिल्स" नाम

---

* डा० बालकृष्ण, "रीजनल प्लानिंग इन इन्डिया", पृष्ठ २१५।

† प्रो० वकील : "इकानामिक कान्सीक्वेन्सेज आफ डिवाइडेड इंडिया", पृष्ठ २०७।

का कारखाना स्थापित किया जा रहा है। इसके समीप ही बाँस और सबाई घास बहुत अधिक मात्रा में उपलब्ध है। प्रांतीय सरकार ने अब इस कारखाने को हस्तान्तरित कर लिया है। इसमें लगभग ४७२ लाख रुपये की पूँजी लगी है और १६५ लाख रुपये ऋण के रूप में दिये जा चुके हैं। लगभग १६० लाख रुपये की और आवश्यकता होगी। कारखाना तैयार हो जाने पर इसमें प्रतिदिन करीब १०० टन अखबारी कागज तैयार होगा। इस उत्पादन से देश की एक तिहाई माँग पूरी हो सकेगी।*

चमड़े का उद्योग

देश की औद्योगिक व्यवस्था में चमड़े के उद्योग का महत्वपूर्ण स्थान है। युद्ध और शांति दोनों ही अवस्थाओं में चमड़े की बनी हुई चीजों की आवश्यकता होती है। कुछ देशों में इस उद्योग को मूल उद्योग तक माना जाता है।* चमड़े पर चुङ्गी लगाने के संबंध में स्थापित एक जाँच समिति (१६३०) ने इस उद्योग के सम्बन्ध में महत्वपूर्ण आँकड़े प्रकाशित किये थे जिनके अनुसार १६३० में इस उद्योग में लगभग ५० करोड़ रुपये की पूँजी लगी हुई थी। लाखों की संख्या में इसके द्वारा रोजगार मिलता है और करोड़ों हरिजनों की आर्थिक स्थिति इस उद्योग पर निर्भर करती है।† संसार के समस्त पशुओं की एक तिहाई संख्या भारत में है। प्राचीन काल से ही भारत में चमड़े का उत्पादन होता रहा है और आज भी संसार में सबसे अधिक कच्चा चमड़ा भारत में ही होता है। प्रतिवर्ष लगभग २१० लाख गाय के चमड़े, ५५ लाख भैंस के चमड़े और २५० लाख बकरी के चमड़े का उत्पादन होता है।

कच्चे चमड़े में मुख्य गाय और भैंस का चमड़ा है। भैंस का चमड़ा अधिक मोटा और मजबूत होता है। इसलिये इसका मुख्य उपयोग जूते का तला बनाने में होता है। गाय का चमड़ा अधिक मुलायम होने के कारण उसका उपयोग जूते का ऊपरी भाग बनाने या चमड़े का अन्य सामान बनाने में होता है। बकरी और भेड़ के चमड़े का उपयोग ज्यादातर चमड़े के थैले, दस्ताने, सूटकेस इत्यादि बनाने में होता है। अन्य पशुओं के चमड़े—घोड़ा, सूअर, जङ्गली पशु—भी तैयार किये जाते हैं, परन्तु अधिक मात्रा में नहीं। सबसे अधिक भैंस, गाय, भेड़ और बकरी का चमड़ा ही तैयार किया जाता है। हमारे देश के कच्चे चमड़े के उत्पादन में एक

---

* डा० पी. जे. टामस : "इंडियान बेसिक इंडस्ट्रीज", पृष्ठ ३०१।

† "रिपोर्ट आफ हाइड्स सेस इन्क्वायरी कमेटी", १६३०, पृष्ठ १५८।

विशेषता है। लगभग तीन चौथाई कच्चा चमड़ा मृत पशुओं से ही निकाला जाता है न कि कटे हुये पशुओं से। इसलिए जिस वर्ष देश के किसी भाग में अकाल पड़ता है तो अधिक पशु मरने के कारण कच्चा चमड़ा अधिक होता है और कृषि परिस्थिति अच्छी होने पर चमड़े का उत्पादन कम हो जाता है।* भारतीय चमड़ा उच्च श्रेणी का नहीं होता। उद्योग असङ्गठित है और चमड़ा निकालने और उसे जमा करके रखने के तरीके दोषपूर्ण हैं। कच्चा चमड़ा साफ करने और कमाने की रीतियाँ अवैज्ञानिक हैं। चमड़ा निकालते समय उसमें सुराख कर दिये जाते हैं, उसकी सतह बराबर नहीं की जाती है और उसे चौकोर आकार में नहीं काटा जाता है। देश में गाय भैंस के चमड़े का केवल ६० प्रतिशत भाग ही काम में लिया जाता है और इसी प्रकार भेड़, बकरी के चमड़े का केवल ४५ प्रतिशत भाग देश में रहता है। बाकी का सारा चमड़ा विदेशों को निर्यात कर दिया जाता है। द्वितीय महायुद्ध के पूर्व १९३९ में चमड़े के निर्यात पर निम्न आँकड़े प्रकाश डालते हैं—†

देश में उपलब्ध कुल चमड़ा (आयात मिलाकर) (लाख)	भारत में कमाया हुआ चमड़ा (लाख)	निर्यात किया हुआ कच्चा चमड़ा (लाख)
भैंस का चमड़ा— ६२	५५·८	६·२
गाय का चमड़ा —२०५	१५८·६	४६·०
बकरी का चमड़ा—२००	६०·६	१३३·४
भेड़ का चमड़ा—२००	१८६·८	१२·३

* डा० टामस, "इन्डियाज बेसिक इंडस्ट्रीज", पृष्ठ १०८।

† "मैन्यूफैक्चरिंग इन्डस्ट्रीज", पृष्ठ १५५।

उद्योग का विकास

भारत में चमड़े का उद्योग प्राचीन काल से होता है। प्राचीन ग्रंथों में इसका उल्लेख मिलता है। वर्ण व्यवस्था और अस्पृश्यता के कारण इसे अधिकतर जाति विशेष के व्यक्ति करते हैं, परन्तु फिर भी वह व्यापक व्यवसाय है। चमार या खटिक ग्रामीण अर्थ-व्यवस्था के आवश्यक अङ्ग हैं। जिस प्रकार पशु पालन कृषि का सहायक व्यवसाय है उसी प्रकार कृषक और चमार एक दूसरे के पूरक हैं। कृषि-कार्य में अनेक प्रकार के चमड़े के सामान की आवश्यकता होती है। ग्रामीण जनता की जूते और चप्पल की आवश्यकता की पूर्ति आज भी बड़े-बड़े कारखाने नहीं, गांव का चमार या मोची ही करता है। प्राचीन काल से ही भारत में चमड़े की सैनिक सामग्री बनती रही है। हिन्दू और मुसलमान बादशाहों के समय बड़े रिसालों का सामान देश में ही बनता था। स्थानिक पशुओं की खालें स्थानिक वस्तुओं की सहायता से कमा ली जाती थीं। परंतु कमाने की आधुनिक रीति के आरम्भ होने से देशी कमाई और रङ्गाई के उद्योग को धक्का पहुँचा है।

ब्रिटिश शासन काल में घुड़सवार फौजों का सामान तैयार करने के लिये सबसे पहले योरोपियन रीति का आरम्भ किया गया। १८६० में कानपुर में गवर्नमेन्ट हारनैस एन्ड सैडलरी फैक्टरी स्थापित की गई। कुछ ही समय पश्चात् वहीं पर मेसर्स कूपर एलन ने फौजी जूते और अन्य सामान बनाने के लिये कारखाना खोला जिसे सरकार ने बहुत आर्थिक सहायता दी। बंबई में श्री परिभाई ने वैस्टर्न इंडिया आर्मी एन्ड इक्विपमेंट फैक्टरी स्थापित की। अन्य स्थानों पर भी छोटे पैमानों पर चमड़े के आधुनिक कारखाने खोले गये। कानपुर और बम्बई के कारखानों को छोड़ बहुत

समय तक चमड़े की कमाई और रंगाई में मशीन का उपयोग नहीं होता था। मद्रास के कारखानों में आधा रँगा और कमाया हुआ चमड़ा तैयार किया जाता था जिसका अधिकांश भाग निर्यात कर दिया जाता था। १९१४-१८ में प्रथम महायुद्ध के कारण भारत के चमड़े के उद्योग में बहुत अधिक परिवर्तन हुआ। सैनिक सामग्री तैयार करवाने वाले बोर्ड ने ऐसे चमड़े के उत्पादन को प्रोत्साहन दिया जो सैनिक आवश्यकता की पूर्ति कर सकता था। मद्रास और बंबई के कारखानों में "ईस्ट इंडिया टेन्ड किप" एक विशेष प्रकार का चमड़ा अधिक तैयार किया जाने लगा। इसे फौजी जूते के ऊपरी भाग के काम में लाया जाता था। युद्धकाल में सरकार ने उद्योग पर पूरा अधिकार कर लिया था और उत्पादन सीधे ब्रिटेन को भेज दिया जाता था। अन्य सारे कारखाने भी सैनिक सामग्री के उत्पादन में लगे हुये थे। युद्धकालीन वातावरण और सरकारी प्रोत्साहन के कारण देश में जूतों का उत्पादन लड़ाई के समय २० गुना बढ़ गया था। उत्पादन वृद्धि के साथ-साथ चमड़े की सफाई, कटाई, कमाई, रङ्गाई और संरक्षण की क्रियाओं में भी बहुत अधिक विकास हुआ। अनेक कारखानों में नवीन पद्धति के द्वारा ये क्रियाएँ की जाने लगीं।

उद्योग को संरक्षण

१९१९ में भारत सरकार ने उद्योग को संरक्षण देने की दृष्टि से चमड़े के निर्यात पर १५ प्रतिशत कर लगाया। परन्तु जो चमड़ा ब्रिटिश साम्राज्य वाले देशों को जाता था और वहां उसकी कमाई और रंगाई होती थी, उस पर १० प्रतिशत कटौती मिल जाती थी। इस कटौती का उद्देश्य भारतीय चमड़े के निर्यात को जर्मनी में कम करके साम्राज्य वाले देशों की ओर बढ़ाना था। परन्तु सरकार

अपने उद्देश्य में सफल नहीं हुई। कटौती के कारण न तो भारतीय चमड़े को ही संरक्षण मिल पाया और न साम्राज्यशाही देशों में ही भारतीय चमड़े का निर्यात बढ़ा। राजस्व कमीशन ने इस नीति की कटु आलोचना की और बताया कि संरक्षण के लिये निर्यात की अपेक्षा आयात कर लगाना अधिक आवश्यक था। १६२३ में सरकार ने निर्यात कर घटा कर ५ प्रतिशत कर दिया और १० प्रतिशत कटौती बिलकुल बंद कर दी। ५ प्रतिशत निर्यात कर केवल राजकीय आय की दृष्टि से ही रखा गया। कर जाँच समिति ने भी बहुमत से राजस्व कमीशन की राय का अनुमोदन किया परन्तु ५ प्रतिशत निर्यात कर कायम रखने की सिफारिश की। १६३४ और १६३५ में निर्यात को प्रोत्साहन देने के लिये क्रमशः गाय-भैंस के चमड़े और भेड़ बकरी के चमड़े पर से निर्यात कर समाप्त कर दिया गया। चमड़े के उद्योग को संरक्षण देने का प्रश्न विचारणीय है क्योंकि अब तक भारत अधिकांश में कच्चे चमड़े का ही निर्यात करता रहा है। उद्योग की व्यापकता, उसमें लगी हुई पूँजी और उसमें लगे हुए व्यक्तियों की संख्या को ध्यान में रखते हुए उद्योग अत्यन्त महत्वपूर्ण है। औद्योगिक व्यवस्था में उसका विशिष्ट स्थान है। चमड़े का निर्यात एक ओर डालर का स्रोत है तो दूसरी ओर उसका प्रभाव ग्रामीण आर्थिक जीवन पर पड़ता है। अतः शासन को समस्त उद्योग की जाँच करके संरक्षण का निर्णय करना चाहिये।

कुछ विशेषज्ञों का मत है कि भारत से चमड़े का निर्यात बिलकुल बंद कर देना चाहिये। केन्द्रीय सरकार द्वारा नियुक्त चमड़ा विशेषज्ञ समिति ने राय दी है कि देश में उद्योग का विकास होने पर समस्त कच्चा माल देश में ही खप जायगा। चमड़े का कच्चे रूप में निर्यात करना अलाभकारी है। अतः गाय, भैंस और भेड़ के

चमड़े का निर्यात बिलकुल रोक देना चाहिये तथा बकरी का चमड़ा केवल ३० प्रतिशत ही बाहर भेजा जाना चाहिये।* निर्यात पर प्रतिबंध लगाना जरा जटिल समस्या है। केवल निर्यात रोक देने से ही कच्चे माल का देश में ही औद्योगिक उपयोग होने लगेगा, यह सन्दिग्ध है। अभी देश में उत्पादन का केवल १/३ भाग ही काम में लाया जाता है। बाकी को बाहर भेज दिया जाता है। निर्यात रोकने पर सारा कच्चा माल देश में ही रुक जायगा और व्यर्थ नष्ट हो जायगा। फिर निर्यात से हमें प्रतिवर्ष लगभग १७-१८ करोड़ रुपये की आमदनी होती है। इसे भी निर्यात रुकने के कारण देश खो बैठेगा। जब तक देश में रंगाई और कमाई के कारखानों की पर्याप्त संख्या नहीं है, देश में कच्चे माल को रोकना बुद्धिमानी नहीं होगी। निर्यात को रोकने के बजाय देश में कारखानों की संख्या बढ़ाई जाय जिससे वे स्वतः कच्चे माल का अधिक उपयोग करने लगें। उद्योग के आंतरिक संगठन में उन्नति की जाय तथा रंगाई और कमाई की क्रियाओं में विकास किया जाय तो उद्योग और कच्चे माल के उत्पादन में सामञ्जस्य स्थापित हो सकेगा।

द्वितीय महायुद्ध का प्रभाव

द्वितीय महायुद्ध ने चमड़े और चमड़े का माल बनाने के उद्योग में बहुत विकास किया है। भारतीय सेनाओं की संख्या बढ़ने और भारत को जापान के विरुद्ध मित्रराष्ट्रों का सैनिक सामग्री का अड्डा बनाने के कारण फौजी जूतों और अन्य सैनिक सामान की आवश्यकता अचानक बढ़ गई। युद्ध के पहले भारत में जूतों की बिक्री इतनी अधिक नहीं थी। कुछ तो जैकोस्लोवाकिया और जापान से आते थे। १९३९ में ४½ लाख जूते जिनकी कीमत १० लाख

* "रिपोर्ट आफ दि पैनल आन लेदर एण्ड लेदर गुड्स"।

रु० थी बाहर से मँगाये गये। युद्ध आरम्भ होते ही आयात बन्द हो गया। युद्ध से पहले १ लाख जोड़ी जूतों की सेना के लिये आवश्यकता होती थी, १९४३ में ६५ लाख जोड़ी जूतों की माँग हो गई। इससे उद्योग में आकस्मिक प्रसार हुआ। मैसर्स कूपर एलन लिमिटेड इस समय संसार में जूते बनाने का सबसे बड़ा कारखाना है। युद्ध से पहले इसमें २००० जोड़ी जूते प्रतिदिन बनते थे। युद्ध के समय १६००० प्रतिदिन बनने लगे। बाटा कम्पनी ने दुगना माल बनाना आरम्भ कर दिया। जूतों के अलावा अन्य सैनिक सामग्री का भी उत्पादन बढ़ा। कानपुर की सरकारी चमड़े की फैक्टरी में मजदूरों की संख्या दसगुनी बढ़ गई थी। उत्पादन वृद्धि के अतिरिक्त कारखानों में नई प्रकार की मशीनें लगाई गई। आंतरिक सङ्गठन का विकास हुआ। चमड़े की रंगाई और कमाई की क्रियाओं में उन्नति हुई। विशेषकर देशी छालों से रंगाई करने की रीति अधिक परिष्कृत हो गई। चमड़े के उद्योग का आरम्भ प्रथम महायुद्ध में हुआ और द्वितीय युद्ध के कारण उसमें आशातीत विकास और प्रसार हुआ है। उद्योग के सङ्गठित कारखानों में इस समय लगभग २ लाख मजदूर काम कर रहे हैं—इनके अतिरिक्त लाखों की संख्या में गाँवों में चमार और छोटे दस्तकार लगे हुए हैं। यदि विकास की यही गति रही तो कोई आश्चर्य नहीं कि यह उद्योग कपड़े के उद्योग से दूसरे नम्बर पर पहुँच जाय।*

उद्योग का संगठन

भारत में चमड़ा कमाने का उद्योग मुख्यतया तीन श्रेणियों में बाँटा जा सकता है—(अ) गाँवों में देशी तरीकों से चमड़ा

* डा० टामस : इंडियाज़ बेसिक इन्डस्ट्रीज, पृष्ठ ३०५।

कमाना, (ब) किप चमड़े की कमाई, (स) आधुनिक तरीकों से चमड़े की कमाई ।

देशी रीति से कमाई—गाँवों में चमार, रैगर आदि पुरानी रीति से कुछ छालों और वक्कलों के द्वारा चमड़ा कमाते हैं । यह उद्योग छोटे पैमाने पर होता है । चमारों की कुल संख्या अभी अज्ञात है परन्तु औसतन १०० लाख चमड़े प्रतिवर्ष देशी रीति से कमाये जाते हैं ।* इस रीति से कमाया हुआ चमड़ा साफ-सुथरा नहीं होता और न उसमें कोई रङ्ग ही होता है । इसमें से बदबू आती रहती है और बरसात के मौसम में तो वह सड़ने लगता है । इस रीति से तैयार किये हुए चमड़े का उपयोग ज्यादातर देशी जूते, चप्पलें, चिड़स (कुएँ से पानी निकालने की चमड़े की बाल्टी) बनाने में होता है । इस चमड़े से बनाई हुई चमड़े की चीजों के कम दाम मिलते हैं । इसलिये घटिया दर्जे का कच्चा चमड़ा ही कमाया जाता है । गाँवों में अच्छा चमड़ा तो व्यापारियों को बेच दिया जाता है और केवल घटिया चमड़ा गाँव के चमारों के हिस्से में आता है । द्वितीय महायुद्ध के समय चमड़े की चीजों की माँग बढ़ जाने से देशी रीति से कमाई के काम का प्रसार हुआ और इस प्रकार का चमड़ा शहरों में भी आने लगा । इसलिये गाँव के चमार को उसके चमड़े के लिये कुछ अच्छे दाम मिलने लगे और चमड़े की किस्म में भी कुछ उन्नति हुई ।

किप चमड़े की कमाई—यह तरीका देशी तरीकों से कुछ अच्छा है । इसमें भी छाल और बक्कल ही काम में लाये जाते हैं । मगर चमड़े की मशक बनाकर तर करने के बजाय उसे गढ़ों में कमाया

* प्रो० वकील : इकानामिक कान्सीक्वेन्सेज़ आफ डिवाइडेड इंडिया", पृष्ठ ३४६ ।

जाता है। इससे चमड़ा अधिक मुलायम और लचकीला बन जाता है और उसमें से बदबू निकल जाती है। इस रीति का उपयोग अधिकतर दक्षिण में ही होता है। वहाँ अवराय और तुरवर की छाल अधिक होती है जिसका इस रीति में उपयोग होता है। प्रथम महा-युद्ध में इस रीति को विशेष प्रोत्साहन मिला जिसके कारण इसका प्रसार अधिक हुआ। विशेषकर ब्रिटेन के चमड़े के कारखानों की आवश्यकता इस रीति से कमाये हुये चमड़े से पूरी हो जाती थी। दूसरे मशीन की भी आवश्यकता नहीं होती है और पूँजी भी कम लगती है। एक ही साथ बहुत से चमड़े कमाये जा सकते हैं इसलिये व्यापारियों को यह सस्ता पड़ता है। मद्रास प्रान्त इस उद्योग का मुख्य केन्द्र है। देश के प्रायः प्रत्येक भाग से मद्रास को कच्चा चमड़ा कमाने के लिये जाता है। मद्रास के आसपास चमड़ा कमाने के लगभग २० कारखाने हैं जिनमें हजारों मजदूर काम करते हैं। इसके अतिरिक्त बम्बई, हैदराबाद और मैसूर में भी इस प्रकार के कारखाने स्थित हैं। सारे देश में कारखानों की संख्या ३७८ है जिनमें १२ करोड़ रु० की लागत के २८ लाख चमड़े प्रतिवर्ष कमाये जाते हैं। इन कारखानों में ३४,५०० मजदूर काम करते हैं।* इस प्रकार से कमाया हुआ चमड़ा अधिकतर ब्रिटेन को भेजा जाता है जहाँ किप चमड़े से पक्का माल तैयार किया जाता है। युद्धकाल में किप चमड़े का निर्यात कुछ कम हो गया, परन्तु देश में उसकी माँग बढ़ गई थी। धीरे-धीरे फिर उसकी कीमत बढ़ी और निर्यात भी बढ़ गया।

आधुनिक रीति से चमड़े की कमाई—आधुनिक रीति में चमड़ा कमाने के लिये वनस्पति, खनिज पदार्थ या पशुओं की चर्बी का

---

* प्रो० वकील : पृष्ठ ८५० ।

उपयोग किया जाता है। वनस्पति में लकड़ी, छाल, झाड़ी, पत्ते और फल काम में लाये जाते हैं। खनिज पदार्थ में नमक, फिटकिरी, क्रोम नमक इत्यादि हैं। पशु पदार्थों में चर्बी और तेल मुख्य हैं। विभिन्न पदार्थों का प्रभाव चमड़े पर अलग-अलग होता है। इसलिये चमड़ा किस रीति से कमाया गया है यह आसानी से जाना जा सकता है। कुछ वर्षों से वनस्पति और खनिज पदार्थों को मिला कर उपयोग में लाया जाने लगा है। इस मिश्रित रीति वाले कमाई के उद्योग में काफी उन्नति की आशा की जाती है।

देश में पक्के चमड़े की माँग बढ़ने के कारण चमड़ा कमाने का काम काफी बढ़ गया है। आधुनिक रीति से चमड़ा कमाने के कारखाने बड़े पैमाने के संगठित कारखाने हैं। इनमें से लगभग १२ कारखानों में क्रूम चमड़ा भी तैयार किया जाता है। इस प्रकार के कारखाने ज्यादातर उत्तरी भाग में स्थित हैं। इस स्थानीकरण के मुख्य कारण निम्न हैं :—(१) उत्तर भारत में कच्चा चमड़ा अधिक मिलता है; (२) चमड़ा कमाने के लिए वानस्पतिक वस्तुएं भी सस्ता मिल जाता है और (३) चमड़े के पक्के माल के लिये उत्तरी भारत में बाजार भी अच्छे हैं। द्वितीय महायुद्ध में चमड़े की बढ़ती हुई माँग की पूर्ति करने के लिये पुराने कारखानों ने उत्पादन में वृद्धि की और नये कारखाने खुले। इस समय देश में लगभग ३४ कारखाने हैं जिनमें ४५ लाख चमड़े प्रतिवर्ष कमाये जा सकते हैं और ८००० मजदूर काम करते हैं। कानपुर, कलकत्ता और बम्बई इस उद्योग के मुख्य केन्द्र हैं। देश में क्रूम चमड़ा तैयार करने की क्रिया में बहुत धीरे-धीरे उन्नति हुई है। यह क्रिया बड़ी जटिल होती है और रसायनशास्त्र के ज्ञान की जरूरत होती है। साथ ही कुछ कीमती मशीनों की भी जरूरत पड़ती है। इन कठिनाइयों के कारण हम इस दिशा में विशेष प्रगति नहीं कर पाये हैं। परन्तु भारत में गाय

और भेड़ बकरी की कुछ इतनी अच्छी खालें होती हैं जिनसे बहुत अच्छे प्रकार का क्रूम तैयार किया जा सकता है। अतः थोड़े से प्रयास से इस उद्योग का विकास बड़ी आसानी से किया जा सकेगा।

जूते और चमड़े का सामान

द्वितीय महायुद्ध से पूर्व अधिकतर गाँव के चमार जूते बनाते थे। केवल शहरों और बड़े कस्बों में योरोपियन डिजाइन के बूटों और जूतों की माँग थी जिसकी पूर्ति छोटे-छोटे कारखानों और कानपुर के मेसर्स कूपर एलन से होती थी। कानपुर, कलकत्ता और आगरा में ही मशीन से जूते बनाये जाते थे। कूपर एलन में लड़ाई से पहले प्रति वर्ष ६ लाख जोड़ी जूते बनते थे जिनमें से १ लाख सेना को चले जाते थे और बाकी बाजार में बिकते थे। इसके अतिरिक्त बाटा कम्पनी और आगरा की छोटी-छोटी फैक्टरियाँ भी काफी संख्या में जूते बनाती थीं। द्वितीय महायुद्ध के कारण उद्योग में बड़ी तेजी के साथ विकास हुआ। सेना के लिये जूतों की माँग बढ़ी जिसकी पूर्ति करने के लिये कारखानों ने तेजी के साथ उत्पादन बढ़ाया। कूपर एलन २००० जोड़ी जूते प्रतिदिन के बजाय १६००० जोड़ी तैयार करने लगा। इसी प्रकार बाटा ने अपना उत्पादन दुगना कर दिया। इस समय जूता बनाने (विशेषकर मशीन द्वारा) का उद्योग कानपुर, आगरा और कलकत्ता में स्थित है। सारे देश में हाथ के द्वारा सबसे अधिक जूते आगरा में बनाये जाते हैं, जहाँ जूतों के छोटे-छोटे कारखानों की संख्या लगभग १५० है। फिर कलकत्ते और बम्बई का नम्बर आता है। कानपुर में जूते बड़े-बड़े कारखानों में बनाये जाते हैं और यह देश का सबसे बड़ा केंद्र है। उत्तरी भारत के केन्द्र अधिक सुविधाजनक क्षेत्र में स्थित हैं।

इन्हीं क्षेत्रों में चमड़ा कमाने के कारखाने हैं और इनके आसपास के क्षेत्रों में ही जूते पहनने वाले लोग भी रहते हैं। जूते बनाने के उद्योग में दक्षिण का कोई विशेष स्थान नहीं है।

जूतों के अतिरिक्त एँड़ी, तल्ला, चमड़े के फीते इत्यादि भी सहायक परन्तु महत्वपूर्ण उद्योग हैं। बहुत समय तक इनका आयात होता था क्योंकि छोटे पैमाने पर इनका उत्पादन लाभकारी नहीं था। परन्तु युद्धकाल में इनका आयात रुक गया और देश में ही इन वस्तुओं का निर्माण आरम्भ हो गया। सरकार की ओर से इस प्रकार के उत्पादन को विशेष प्रोत्साहन मिला और उत्तरी भारत के अनेक कारखाने इनका निर्माण करने लगे। १६४१ के पहले इनका उत्पादन नहीं के बराबर था, परन्तु १६४३ में लगभग २ करोड़ ८१ लाख एँड़ी और तल्ले बनाये गये। परन्तु इस उद्योग का भविष्य अनिश्चित है क्योंकि इन वस्तुओं की जरूरत ज्यादातर सेना में ही होती है और यदि भारतीय माल की किस्म में सुधार न किया गया तो फिर से विदेशी माल का आयात होना शुरू हो जायगा।

लड़ाई से पहले सैनिक आवश्यकता का सारा माल कानपुर की हार्नेस एण्ड सैडलरी फैक्टरी में बनता था। यह देश का बहुत पुराना कारखाना है। इसके कारण और भी छोटे-छोटे उद्योग कानपुर में आरंभ हो गये हैं। युद्ध के समय रिसाले के लिये बहुत सी चीज़ों की माँग बढ़ी जिसकी पूर्ति कानपुर के कारखाने ने की। इस कारखाने में पहले से २० गुना उत्पादन बढ़ा। १६४० में कलकत्ता, अमृतसर, मद्रास और बम्बई में भी औद्योगिक उत्पादन के संगठन स्थापित किये गये।

विभाजन का प्रभाव

चमड़ा कमाई और चमड़े के सामान बनाने के उद्योग पर विभाजन का बुरा प्रभाव पड़ा है। वनस्पति आदि से कमाये जाने

वाले चमड़े का उत्पादन ५० प्रतिशत कम हो गया। इसी प्रकार क्रूम में भी ५० प्रतिशत कमी हो गई। चमड़े के उद्योग में मुसलमानों की संख्या बहुत अधिक थी। इनमें से बहुत बड़ी संख्या में पाकिस्तान चले जाने के कारण चमड़े का व्यापार अस्त-व्यस्त हो गया था परन्तु थोड़े ही समय में हिन्दू व्यापारियों ने इनका कार्य सम्हाल लिया। आगरा के चमड़ा उद्योग और व्यापार में लगे हुए बहुत से मुसलमान पाकिस्तान चले गये हैं, इसलिये आगरा में अवश्य कुशल श्रमिकों की कमी हो गई है। कच्चे माल के लिये भी भारत की पाकिस्तान पर निर्भरता कम नहीं थी। प्रतिवर्ष पाकिस्तानी क्षेत्रों से लगभग ४० लाख चमड़े भारतवर्ष में आते थे। पेशावर और लाहौर चमड़े के व्यापार के बहुत बड़े केन्द्र थे। भारत पाकिस्तान के द्वारा टर्की और अफगानिस्तान से अच्छी किस्म का चमड़ा प्राप्त करता था। भारतीय रुपये के अवमूल्यन के कारण इन देशों से चमड़ा मँगाना कठिन हो गया है। भारत में बना हुआ पक्का माल बड़ी मात्रा में पाकिस्तान के बाजारों में बिकता था। विभाजन के पश्चात् पाकिस्तान में भारतीय माल की बिक्री बहुत कम हो गई है। स्वयं पाकिस्तान भी चमड़े की वस्तुएँ बनाने के उद्योग संगठित करता जा रहा है। विभाजन के कारण निर्यात पर भी अहितकर प्रभाव पड़ा है, इससे विदेशी विनिमय कमाने में भी हानि पहुँची है। पाकिस्तान भी अच्छी किस्म के चमड़े का निर्यात बढ़ा रहा है जिसका प्रभाव विदेशी बाजारों में भारतीय निर्यात पर पड़ने वाला है। अतः भविष्य में भारत को अपना उत्पादन देश में ही उपयोग में लाना होगा।

विकास-योजनाएँ

भारत में चमड़ा कमाई और चमड़ा उद्योग का भविष्य उज्ज्वल है। इस समय प्रायः सारे संसार में चमड़े की कमी है।

भारत में चमड़ा प्रतिवर्ष पर्याप्त मात्रा में होता है। यदि इस उद्योग को सुचारु रूप से संगठित किया जाय तो भारत का निर्यात व्यापार बढ़ सकता है। युद्धकाल में चमड़े की वस्तुएँ बहुत महँगी होने के कारण उनकी माँग घट गई थी। यदि उद्योगपति लागत कम करके किसी प्रकार जूतों इत्यादि की कीमत घटा सकें तो देश में ही चमड़े की चीजों की माँग बढ़ेगी। एशियाई देशों में भारत के जूतों का निर्यात बढ़ाया जा सकता है और यदि इस दिशा में सरकारी सहायता मिल जाय तो भारत का जूते बनाने का उद्योग संसार में सबसे बड़ा उद्योग हो सकेगा। भारत सरकार द्वारा नियुक्त चमड़ा उद्योग विशेषज्ञ समिति ने उद्योग के विकास के लिये निम्न योजना की सिफारिश की है—*

	युद्ध से पूर्व उत्पादन	युद्धोत्तर लक्ष्य
वनस्पति द्वारा कमाया हुआ चमड़ा	३७३०० लाख	४९५०० लाख
क्रूम चमड़ा	७०० लाख वर्गफुट	१५०० लाख वर्गफुट
देशी जूते	७००० लाख	१५०,००० लाख
विलायती जूते	३०० लाख	४५० लाख

समिति ने उपर्युक्त योजना को कार्यान्वित करने के लिये कुछ सिफारिशें की हैं। समिति के मतानुसार भारत से कच्चे चमड़े का निर्यात तुरन्त बन्द कर देना चाहिये। चमड़ा कमाने वालों की सहकारी समितियाँ संगठित करनी चाहिये तथा उन्हें कमाने की उत्तम रीतियाँ बतानी और दिखानी चाहिये। जूते बनाने के उद्योग में मशीन का उपयोग बढ़ाना चाहिये, विशेषकर आगरा के कारखानों का अधिक यंत्रीकरण करना आवश्यक है। इसलिये सरकार को

* "रिपोर्ट आफ दी पैनल आन लैदर एन्ड लैदर गुड्स"।

बाहर से मशीन इत्यादि बनाने का प्रबंध करना चाहिये। चमड़े के अन्य सामान का उत्पादन भी देश में बढ़ाया जा सकता है। खेल के सामान दुगुने बनाये जाने चाहिये और उसके निर्यात के लिये प्रयत्न करने चाहिये। इसी प्रकार सूटकेस, बैग, बटुए इत्यादि भी अधिक बनने चाहिये। इनके अतिरिक्त कारखानों में भी चमड़े के पट्टों की जरूरत होती है। अब तक ये विदेश से आते थे। भविष्य में ये देश में ही तैयार किये जा सकते हैं। समिति ने कानपुर स्थित सरकारी कारखाने को बंद करने की राय दी है और सैनिक सामान भविष्य में साधारण कारखानों द्वारा बनवाने की राय दी है। उद्योग के विकास के लिये सरकार अनेक प्रकार से सहायता दे सकती है—जैसे कच्चे माल के निर्यात पर प्रतिबंध, चमड़े की कुछ वस्तुओं के आयात पर कर और कमाई के लिये छाल, वनस्पति इत्यादि को प्राप्त करने की सुविधा देना इत्यादि। इसके अतिरिक्त समिति ने एक केन्द्रीय चमड़ा अनुसंधान संस्था स्थापित करने की सिफारिश की है तथा चमड़े के कारखानों को अनुसंधान के लिये सहायता देने के लिये भी सलाह दी है। साथ ही प्रत्येक प्रान्त में उद्योग विभाग के अंतर्गत चमड़ा उद्योग के लिए उप-विभाग खोलने की भी समिति ने राय जाहिर की है।

शीशे का उद्योग

स्पात, सीमेन्ट और शीशे का हमारी सभ्यता पर बड़ा महत्व-पूर्ण प्रभाव है। तीनों में से सम्भवतः शीशा हमारे वैयक्तिक जीवन में अधिक प्रविष्ट कर चुका है। हमारे जीवन में प्रकाश, चमक और शुद्धता का वह प्रतीक बन चुका है। शीशे का उपयोग देश की प्रगति का माप माना जाता है। घर और कारखानों में उसके अनेक उपयोग होते हैं, और यह एक प्रकार से औद्योगिक संस्कृति के लिये आवश्यक वस्तु बन गया है। धातुओं की कमी के कारण उसका महत्व और भी बढ़ गया है। चमकीला पदार्थ होने तथा उस पर पदार्थों का रासायनिक प्रभाव न होने के कारण, वह धातु से भी अधिक उपयोगी है। न टूटने वाले (अनब्रेकेबल) शीशे का आविष्कार होने के कारण उसका उपयोग और भी व्यापक हो गया है।* भारतवर्ष में प्राचीन काल से ही शीशे का सामान बनता है। ईसा से सैकड़ों वर्ष पूर्व इस उद्योग के होने के सम्बन्ध में ऐतिहासिक प्रमाण मिलते हैं। रोम के विख्यात लेखक प्लायनी ने अपने ग्रन्थ "नेचुरल हिस्ट्री" में भारत के शीशे का उल्लेख करते हुए, उसकी प्रशंसा की है।† परन्तु प्राचीन काल में यह उद्योग छोटे पैमाने पर होता था, और विशेष स्थानों पर ही केन्द्रित था। असङ्गठित होने के कारण प्राचीन उद्योग प्रायः लुप्त हो गया है। ऐतिहासिक ग्रन्थों से केवल इतना ही पता लगता है, कि १६ वीं शताब्दी के लगभग

* डा० टामस : 'इन्डियाज बेसिक इंडस्ट्रीज', पृष्ठ ३२६।

† दि न्यू स्टैन्डर्ड इन्सायक्लोपीडिया, पृष्ठ १००४।

भारत में शीशे की चूड़ियों के अतिरिक्त बोतलें भी बनाई जाती थीं। परन्तु अब की तरह उस समय भी सब से अधिक माँग चूड़ियों की ही थी। शीशे का अन्य सामान बहुत थोड़ी मात्रा में और विशेष आवश्यकता के अनुसार ही बनाया जाता था।

आधुनिक पद्धति के शीशे के उद्योग का आरंभ भारत में सबसे पहले अंग्रेजी उद्योगपतियों ने १८९२ के लगभग किया। आरंभ में ५ कारखाने विभिन्न स्थानों पर खोले गये, परंतु अनेक कठिनाइयों के कारण ये सभी कारखाने कुछ ही समय पश्चात् बंद हो गये। विदेशी उद्योगपतियों के सतत प्रयत्नों के पश्चात् भी अंतिम कारखाना १९०८ में बंद करना पड़ा। १९०९ में मद्रास में कुछ यूरोपियन उद्योगपतियों ने फिर असफल प्रयास किया। इन प्रारंभिक प्रयत्नों की असफलता मुख्यतया अनुभव, कुशल श्रम और धन की कमी तथा कारखानों के लिये अनुपयुक्त स्थान के कारण थी। परंतु १९०६-१२ में स्वदेशी आंदोलन के कारण शीशे के उद्योग को फिर प्रोत्साहन मिला। इस समय लगभग १६ नये कारखाने स्थापित किये गये, जो प्रायः सभी भारतीय औद्योगिक साहस और पूँजी के फलस्वरूप आरम्भ हुये थे। परंतु फिर इन कारखानों के मार्ग में अनेक बाधाएँ आईं और १९१४ तक इनमें से केवल ३ कारखाने ही चालू रह सके। इन बचे हुये कारखानों में भी लाभ नाम मात्र को ही होता था। पूना जिले में तलेगाँव के कारखाने का प्रबंध सार्वजनिक सहायता से ही होता था। प्रथम महायुद्ध तक उद्योग किसी प्रकार लड़खड़ाता रहा। युद्ध के कारण उद्योग को नवीन जीवन प्राप्त हुआ। युद्धकाल में जर्मनी और आस्ट्रिया से आयात बंद हो जाने के कारण देश में नये कारखाने खुले। १९१८ तक लगभग २० कारखाने शीशे का सामान बनाने में लगे थे। अकेले फिरोजाबाद में ही ७ कारखाने चूड़ियाँ बनाते थे और

अन्य स्थानों में लैम्प की चिमनियाँ, बोतल इत्यादि बनती थीं। प्रथम महायुद्ध के पश्चात् फिर उद्योग की स्थिति बिगड़ी; उसे भारतीय बाजारों में विदेशी माल का मुकाबला करना पड़ा। जापान, जेकोस्लोवाकिया और ब्रिटेन का माल अधिक सुन्दर और सस्ता पड़ता था। परन्तु विदेशी माल की प्रतिस्पर्धा के बावजूद भी उद्योग शनैः शनैः प्रगति करता चला गया। १९३१ में १५ से २५ प्रतिशत आगम कर (रेवेन्यू ड्यूटी) बढ़ जाने तथा यूरोपियन और जापानी विदेशी विनिमय दर बदल जाने के कारण उद्योग को परोक्ष सहायता मिली। १९३२ में कारखानों की संख्या ५९ थी, जिनमें से २३ कारखाने केवल चूड़ियाँ बनाते थे और एक कारखाने में बनावटी मोती बनते थे। अन्य कारखानों में शीशे के तख्ते, बोतल, चिमनियाँ, गोले, डाक्टरी सामान इत्यादि बनते थे। युद्धान्तर काल में शीशे के उद्योग में तेजी से प्रसार और विकास हुआ है। द्वितीय महायुद्ध से पहले प्रति वर्ष लगभग २ करोड़ रुपये का सामान बनता था। शीशे के सामान की ६० प्रतिशत आवश्यकता देशी कारखानों के द्वारा ही पूरी हो जाती थी। इस समय उत्पादन में लगभग २५० प्रतिशत वृद्धि हुई।

संरक्षण की माँग

१९३२ में टैरिफ बोर्ड ने शीशे के उद्योग को १० वर्ष के लिये संरक्षण देने की सिफारिश की थी। उद्योग की विभिन्न वस्तुओं को किस प्रकार से विदेशी आयात से संरक्षण दिया जाय, इसकी एक योजना भी बोर्ड ने सरकार को पेश की। बोर्ड ने अपनी सिफारिश की पुष्टि करते हुए लिखा था, कि उद्योग को देश में कच्चा माल पर्याप्त मात्रा में मिल सकता है, कोयला भी काफी मात्रा में उपलब्ध है, मजदूर भी सस्ती दर पर मिल सकते हैं, और देश में शीशे के

सामान के लिये माँग भी बढ़ती जा रही है। १९३५ में भारत सरकार ने बोर्ड की सिफारिशों पर अपना निर्णय दिया, और उद्योग को संरक्षण नहीं देने का निश्चय किया। सरकार की राय में देश में पर्याप्त सोडा ऐश न मिलना उद्योग की अन्य प्राकृतिक सुविधाओं की तुलना में उसकी बहुत बड़ी कठिनाई है। सोडा ऐश के अन्य स्रोत ढूँढे जाने तक सरकार ने अपना अन्तिम निर्णय स्थगित कर दिया, परन्तु सोडा ऐश के आयात कर पर कटौती देने का निर्णय किया। उद्योग को इस निर्णय से बहुत असंतोष हुआ, और सरकारी नीति की आलोचना की गई। बोर्ड ने भी देश में सोडा ऐश की कमी को स्वीकार किया था, परन्तु उसके मतानुसार इस पदार्थ की कमी के कारण उद्योग को संरक्षण न देना न्यायसंगत नहीं था।* गत वर्षों में यद्यपि उद्योग को संरक्षण नहीं मिला, परन्तु सरकार ने उद्योग की अन्य प्रकार से सहायता अवश्य की है। उत्तर प्रदेश में जहाँ कि उद्योग का स्थानीकरण हुआ है, सरकार नें एक शीशे का विशेषज्ञ नियुक्त किया है जो उद्योग की प्रत्येक प्रकार से सहायता करता है। केन्द्रीय सरकार की ओर से कलकत्ते में सेन्ट्रल ग्लास एण्ड सिरेमिक रिसर्च इन्स्टीट्यूट स्थापित किया गया है। यह संस्था उद्योग के काम में आनेवाले कच्चे माल का प्रमाणीकरण करेगी, भट्ठियों में सुधार के लिये अनुसंधान करेगी, तथा उद्योग से सम्बन्धित जानकारी और सूचनायें एकत्रित एवं प्रकाशित करेगी।

द्वितीय महायुद्ध का प्रभाव

द्वितीय महायुद्ध के कारण शीशे के उद्योग में बड़ी तेजी से प्रसार और विकास हुआ है। युद्धकाल में जर्मनी, बेल्जियम, जेको-

* रिपोर्ट आफ टैरिफ बोर्ड आन ग्लास इन्डस्ट्री, अनु० ३९।

स्लोवाकिया और फिर जापान से भी आयात बन्द हो जाने के कारण, आयात जो कि १९३९-४० में १ करोड़ रुपये के लगभग था, घटकर १९४१-४२ में लगभग ६५ लाख रुपये रह गया। देश की माँग देश में ही पूरी की जाने के प्रयत्न किये गये। भारत को सैनिक सामग्री का अड्डा बना देने के कारण सेना के काम में आनेवाले शीशे के सामान की माँग और भी बढ़ गई। इससे अनेक प्रकार के नये सामान बनाये जाने लगे। अब तक शीशे की चद्दरें बाहर से आती थीं, परन्तु युद्धकाल में उत्तर प्रदेश में स्थित बहजोई कारखाने में चद्दरें बनाई जाने लगीं। फान्दरा और नैनी के कारखानों में यह काम आरम्भ हुआ। ग्लास, ग्लोब, लालटेन की चिमनियाँ जो अभी तक देशी भट्ठियों पर बनाये जाते थे, अब आधुनिक रीति की भट्ठियों पर बनाये जाने लगे और उनकी किस्म, सफाई, और सुन्दरता में भी सुधार हुआ। द्वितीय महायुद्ध से पहले देश में बोतलें भी अच्छी प्रकार की नहीं बनती थीं। उनका आकार समान नहीं होता था, बनावट में सफाई नहीं आती थी, उनमें डाट लगाने की रीति संतोषजनक नहीं थी, तथा विभिन्न रासायनिक प्रतिक्रियाओं में वे टिकाऊ साबित नहीं होती थीं। युद्धकाल में विदेशों से बोतलों का आयात बंद हो जाने के कारण देश में बोतल बनाने के काम को भी प्रोत्साहन मिला। बनारस के समीप रामनगर में और गाजियाबाद में बोतल बनाने के नये कारखाने खोले गये, वहां अब उत्तम प्रकार की बोतलें बनती हैं। बनारस का कारखाना लगभग ३५०० टन बोतल तथा गाजियाबाद का कारखाना २००० टन बोतल प्रति वर्ष बनाता है। बिजनौर में ग्रामोद्योग पैमाने पर लगभग ३५ कारखाने बोतल बनाते हैं। सजावट का शीशे का सामान भी अब देश में बनने लगा है। युद्ध के पहले विदेशों से प्रति वर्ष लगभग २५ लाख रुपये के

बनावटी मोती आते थे। अब सरकार की सहायता से कुछ दस्तकार लोग बनावटी मोती बनाने लगे हैं, और इस उद्योग की ट्रेनिंग का प्रबंध भी बनारस में किया गया है। शीशे के बटन, खिलौने, सजावट का सामान इत्यादि भी अनेक कारखानों में बनने लगा है। वैज्ञानिक प्रयोगों के काम की वस्तुएँ, जैसे नालियाँ, फ्लास्क, औजार इत्यादि, भी देश में बनती हैं। युद्धकाल में एक और नया विकास हुआ है। अब तक बिजली के बल्ब बाहर से ही आते थे, परन्तु युद्धकाल में उनका आयात रुक जाने के कारण, सरकार ने उनके निर्माण को प्रोत्साहन दिया। शिकोहाबाद और बलवाली नामक स्थानों पर देशी रीति से बल्ब बनाये जाने लगे। बम्बई के विक्टरी वर्क्स और यू० पी० के बलवाली गंगा ग्लास वर्क्स में थरमस की बोतलें बनाने का भी प्रयत्न जारी है। विभिन्न प्रकार की नई वस्तुओं के निर्माण के अतिरिक्त उद्योग की वैज्ञानिक और शैल्पिक प्रगति भी हुई है। शीशे के उद्योग में शीशा पिघलाने की भट्टी का बहुत महत्वपूर्ण स्थान है। युद्धकाल में नई पद्धति की ऐसी भट्टियाँ बनाई गई हैं, जिन में तापमान अधिक रहता है, कोयला कम जलता है और शीशा पिघलाने के लिये तापमान आसानी से घटाया बढ़ाया जा सकता है। इस प्रकार की भट्टियों का प्रचार करने के लिये सरकार ने विदेशों से उनके डिज़ाईन मँगवाये और उनके आधार पर नई भट्टियों का निर्माण किया गया है। गत दो वर्षों में प्रायः सभी कारखानों में पुराने तरीके की भट्टियों को नई प्रकार की भट्टियों में परिवर्तित कर दिया गया है। इस से शीशा पिघलाने में आसानी हो गई है और लागत भी कम आती है। शीशा गलाने और उसका सामान ढालने की क्रियाओं में भी उन्नति हुई है। ऊपर के विवरण से स्पष्ट है कि द्वितीय महायुद्ध के कारण शीशे के कारखानों को

केवल संख्या ही नहीं बढ़ी है, उत्पादन भी बढ़ा है: नई किस्म की चीजें बनने लगी हैं और भट्टियों में सुधार हुआ है। शीशे के गलाने, साफ करने, और ढालने की क्रियाएँ अधिक परिष्कृत हुई हैं। कारखानों में आधुनिक ढंग की मशीनें बढ़ाई गई हैं, और अत्यन्त महत्त्वपूर्ण शैल्पिक परिवर्तन किये गये हैं। उद्योग की युद्ध पूर्व और युद्धोत्तर स्थितियों की तुलना करने पर प्रायः प्रत्येक दृष्टि से दुगुना अन्तर प्रतीत होता है।*

वर्तमान समस्याएँ और उद्योग का भविष्य

भारत का शीशे का उद्योग दो श्रेणियों में विभक्त है : देशी और आधुनिक। देशी तरीके के उद्योग द्वारा मुख्यतया चूड़ियाँ बनाई जाती हैं। यह प्रायः सारे देश में फैला हुआ है, परन्तु विशेषतया उत्तर प्रदेश और मद्रास प्रान्त में इसके अधिक केन्द्र हैं। द्वितीय महायुद्ध के पहले उद्योग ने इसी क्षेत्र में विशेष उन्नति की थी। भारत में बिकने वाली ८० प्रतिशत चूड़ियाँ देशी कारखानों में बनी हुई होती थीं। छोटे दस्तकार, कारखानों में बने हुए, शीशों के टुकड़ों से चूड़ियाँ बनाते हैं। फिरोजाबाद में चूड़ियाँ कारखानों में भी बनाई जाती हैं। शीशे के उद्योग का स्थानीकरण उत्तर प्रदेश में अधिक हुआ है। युद्ध से पूर्व १०० कारखानों में से लगभग ५० उत्तर प्रदेश में ही स्थित थे। इस स्थानीकरण के कुछ विशेष कारण हैं। शीशे के उद्योग में विशेष प्रकार की मिट्टी और कोयले की बहुत आवश्यकता होती है। इसलिये इसके कारखाने वहीं स्थापित किये जा सकते हैं, जहाँ ये दोनों पदार्थ उचित कीमत पर मिल सकते हैं।

---

*लोकेशन ऑफ इन्डस्ट्री इन इन्डिया (सरकारी प्रकाशन), पृष्ठ ४६:
'इण्डियाज़ बेसिक इन्डस्ट्रीज़', पृष्ठ २३०

शीशे का सामान बनाने के लिये कुशल श्रम की भी जरूरत होती है। उत्तर प्रदेश में उद्योग के लिये अनुकूल सुविधायें उपलब्ध हैं। लोधड़ा, बारगढ़ और पनहाई नामक स्थानों पर उत्तम प्रकार की आवश्यक मिट्टी पायी जाती है। यद्यपि उत्तर प्रदेश के कारखानों को कोयला दूर से मँगाना पड़ता है, परन्तु बंगाल को छोड़ प्रायः अन्य प्रान्तों की अपेक्षा यू० पी० में कोयला सस्ती दर पर मिल जाता है। उत्तर प्रदेश को सब से अधिक सुविधा कुशल श्रमिक सस्ती मजदूरी पर मिलने की है। यहाँ प्राचीन काल से ही फिरोजाबाद के समीप कुछ जातियाँ शीशे का उद्योग करती आई हैं। इन्होंने समय परिवर्तन के साथ, उत्पादन के नये तरीके भी अपना लिये हैं। शीशे के कारखानों का इस समय देश में जो वितरण हुआ है, इससे यही सिद्ध होता है, कि स्थानीकरण जनसंख्या के अनुसार नहीं बल्कि कच्चे माल की उपलब्धता के आधार पर ही हुआ है। अतः भविष्य में उद्योग का विकास करते समय इस बात का ध्यान रखना आवश्यक होगा।*

शीशे के कारखानों की इस समय देश में संख्या लगभग १०० है जिनमें औसतन प्रतिवर्ष २०० लाख रुपये का माल बनाया जाता है। ७-८ कारखानों को छोड़कर प्रायः सारे कारखाने छोटे पैमाने पर चलाये जाते हैं। उद्योग के मार्ग में निम्न कठिनाइयाँ हैं :†

(१) सुसंगठित विदेशी कारखानों द्वारा भारतीय बाजार में देशी माल से प्रतिस्पर्द्धा;

(२) राज्य द्वारा उद्योग को पर्याप्त संरक्षण न मिलना;

(३) उद्योग के आन्तरिक संगठन में त्रुटियाँ;

---

* लोकेशन ऑफ इन्डस्ट्री इन इन्डिया (सरकारी प्रकाशन, पृष्ठ ६१।

† 'ड्राफ्ट रिपोर्ट ऑफ ग्लास इंडस्ट्री (एन० पी० सी०), पृष्ठ १४६।

(४) शैल्पिक एवं औद्योगिक दृष्टि से उद्योग का पिछड़ा हुआ होना ;

(५) सोडा ऐश अभी भी विदेशों से मँगाया जाता है।

परंतु कठिनाइयों के साथ-साथ देश में उद्योग के लिये अनुकूल परिस्थितियाँ भी विद्यमान हैं। प्रायः सारे देश में शीशा बनाने के काम में आने वाली मिट्टी पाई जाती है। थोड़े से सुधार से उससे अति उत्तम प्रकार का शीशा भी बनाया जा सकता है। शीशे के उद्योग की देश में प्राचीन परम्पराएँ हैं, विशेषकर उत्तर प्रदेश में बड़े कुशल श्रमिक उपलब्ध हैं। शीशे का उद्योग दिन प्रतिदिन बढ़ता ही जा रहा है। देश के जीवन-स्तर में उन्नति होने के साथ शीशे के सामान की खपत और भी बढ़ेगी। भारत सरकार द्वारा नियुक्त विशेषज्ञ समिति ने उद्योग के विकास के संबंध में लक्ष्य निश्चित किया है—शीशे की चादरें ४२० लाख वर्ग फुट, २५० लाख शीशे के टुकड़े। समिति ने उक्त लक्ष्य प्राप्त करने के लिये कुछ मूल बातों की सिफारिश की है। निकट भविष्य में केवल उन्हीं सामानों की किस्म और मात्रा में विकास करना चाहिये जिनका इस समय भारत में आरम्भ हो चुका है। कुछ नये सामान, जैसे बनावटी मोती, उत्तम प्रकार की शीशे की चादरें तथा चश्मे के उपयोग में आने वाले सामान, बनाने का भी प्रयत्न करना चाहिये। अनुज्ञा (लायसेंस) पद्धति के द्वारा स्थानीकरण की नीति निश्चित करनी चाहिये, जिससे उत्पादन कम लागत पर हो सके, और प्राकृतिक साधनों तथा यातायात का सदुपयोग हो सके। भविष्य में कारखाने कच्चे माल के स्रोत के पास न खोलकर बड़े बाजारों के नजदीक खोले जाने चाहिये क्योंकि शीशे का सामान आसानी से टूटने वाली वस्तु है। सामान्य रूप से शीशे के कारखानों पर वैयक्तिक अधिकार होना चाहिये। परन्तु चश्मे के लिये शीशे बनाने

के लिये यदि वैयक्तिक पूँजी आगे न आये तो राज्य को आधी पूँजी लगाकर कारखानों को आर्थिक सहायता देनी चाहिये। ग्रामोद्योग के आधार पर चलने वाले कारखानों के विकास को विशेष प्रोत्साहन देना चाहिये जिससे उद्योग का समस्त देश में वितरण हो सके। विशेपज्ञ समिति ने राजकीय सहायता के बारे में भी सिफारिशें की हैं। अब तक देश में शीशे से सम्बन्धित कच्चे माल का पर्यवेक्षण नहीं किया गया है। भारतीय भूगर्भ पर्यवेक्षण के तत्वावधान में कच्चे माल के स्रोतों की जाँच कराना अत्यंत आवश्यक है। सोडा ऐश जिसकी बहुत बड़े अनुपात में आवश्यकता होती है, अब तक विदेशों से आता है। सोडा ऐश के स्थान पर कुछ अंशों में फेल्सपर का उपयोग किया जा सकता है, जो देश में ही उपलब्ध है। इसके उपयोग को प्रोत्साहन देना चाहिये। शीशे के कच्चे और निर्मित माल पर यातायात की दरें कम करने की आवश्यकता है, जिससे उत्पादन-व्यय में कुछ कमी की जा सके। १६३२ में संरक्षण का प्रश्न स्थगित कर दिया गया था; समिति ने इस विषय पर पुनर्विचार करने की राय दी है।